स्याद्वाद्सिद्धि और वादीभसिंह

स्याद्वादसिद्धि

(क) ग्रन्थ-परिचय

इस ग्रन्थरत्नका नाम 'स्याद्वादसिद्धि' है। यह दार्शनिकशिरोमणि वादीभसिंहसूरिद्वारा रची गई महत्त्वपूर्ण एवं उच्चकोटिकी दार्शनिक कृति है। इसमें जैनदर्शनके मौलिक और महान् सिद्धान्त 'स्याद्वाद' का प्रतिपादन करते हुए उसका विभिन्न प्रमाणों तथा युक्तियोंसे साधन किया गया है। अतएव इसका 'स्याद्वाद-सिद्धि' यह नाम भी सार्थक है। यह प्रख्यात जैन तार्किक अकलंकदेवके न्यायविनिश्चिय आदि जैसा ही कारिकात्मक प्रकरणग्रन्थ है। किन्तु दुःख है कि यह विद्यानन्दकी 'सत्यशासनपरीक्षा' और हेमचन्द्रकी 'प्रमाण-मीमांसा' की तरह खण्डित एवं अपूर्ण ही उपलब्ध होती है। मालूम नहीं, यह अपने पूरे रूपमें और किसी शास्त्रभण्डारमें पायी जाती है या नहीं,। अथवा ग्रन्थकारके अन्तिम जीवनकी यह रचना है जिसे वे स्वर्गवास हो जानेके कारण पूरा नहीं कर सके? मूडबिद्रीके जैनमठसे जो इसकी एक अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण और प्राचीन ताडपत्रीय प्रति प्राप्त हुई है तथा जो बहुत ही खण्डित दशामें विद्यमान है—जिसके अनेक पत्र मध्यमें और किनारोंपर टूटे हुए हैं और सात पत्र तो बीचमें बिल्कुल ही गायब हैं उससे जान पड़ता है कि ग्रन्थकारने इसे सम्भवतः पूरे रूपमें ही रचा है। यदि यह अभी नष्ट नहीं हुई है तो असम्भव नहीं कि इसका अनु-सन्धान होनेपर यह किसी दूसरे जैन या जैनेतर शास्त्रभण्डारमें मिल जाय।

यह प्रसन्नताकी बात है कि जितनी रचना उपलब्ध है उसमें १३ प्रकरण तो पूरे और १४ वाँ तथा अगले २ प्रकरण अपूर्ण और इस तरह पूर्ण-अपूर्ण १६ प्रकरण मिलते है। और इन सब प्रकरणोंमें (२४ + + ४४ + ७४ + ८९$\frac{१}{२}$ + ३२ + २२ + २२ + २१ + २३ + ३९ + २८ + १६ + २१ + ७० + १३८ + ६$\frac{१}{२}$ =)६७० जितनी कारिकाएँ सन्निबद्ध हैं। इससे ज्ञात हो सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कितना महान् और विशाल है। दुर्भाग्यसे अब तक यह विद्वत्संसारके समक्ष शायद नहीं आया और इसलिए अभी तक अपरिचित तथा अप्रकाशित दशामें पड़ा चला आया।

(ख) भाषा और रचनाशैली

दार्शनिक होनेपर भी इसकी भाषा विशद और बहुत कुछ सरल है। ग्रन्थको सहजभावसे पढ़ते जाइये, विषय समझमें आता जायेगा। हाँ, कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ पाठकको अपना पूरा उपयोग लगाना पड़ता है और जिससे ग्रन्थकी प्रौढता, विशिष्टता एवं अपूर्वताका भी कुछ अनुभव हो जाता है। यह ग्रन्थकारकी मौलिक स्वतन्त्र पद्यात्मक रचना है—किसी दूसरे गद्य या पद्यरूप मूलकी व्याख्या नहीं है। इस प्रकारकी रचनाको रचनेकी प्रेरणा उन्हें अकलंकदेवके न्यायविनिश्चयादि और शान्तरक्षितादिके तत्त्वसंग्रहादिसे मिली जान पड़ती है।

धर्मकीर्ति (६२५ ई०) ने सन्तानांतरसिद्धि, कल्याणरक्षित (७०० ई०) ने बाह्यार्थसिद्धि, धर्मोत्तर (ई० ७२५) ने परलोकसिद्धि और क्षणभङ्गसिद्धि तथा शङ्करानन्द (ई० ८००) ने अपोहसिद्धि और प्रतिब-न्धसिद्धि जैसे नामोंवाले ग्रन्थ बनाये हैं और इनसे भी पहले स्वामी समन्तभद्र (विक्रमकी २ री, ३ री शती)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और पूज्यपाद-देवनन्दि (विक्रमकी ६ ठी शती) ने क्रमशः जीवसिद्धि तथा सर्वार्थसिद्धि जैसे सिद्धयन्त नामके ग्रन्थ रचे हैं। सम्भवतः वादीभसिंहने अपनी यह 'स्याद्वादसिद्धि' भी उसी तरह सिद्धयन्त नामसे रची है।

(ग) विषय-परिचय

ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारने प्रथमतः पहली कारिकाद्वारा मङ्गलाचरण और दूसरी कारिकाद्वारा ग्रन्थ बनानेका उद्देश्य प्रदर्शित किया है। इसके बाद उन्होंने विवक्षित विषयका प्रतिपादन आरम्भ किया है। वह विवक्षित विषय है स्याद्वादकी सिद्धि और उसीमें तत्त्वव्यवस्थाका सिद्ध होना। इन्हीं दो बातोंका इसमें कथन किया गया है और प्रसङ्गतः दर्शनान्तरीय मन्तव्योंकी समीक्षा भी की गई है।

इसके लिये ग्रन्थकारने प्रस्तुत ग्रन्थमें अनेक प्रकरण रखे हैं। उपलब्ध प्रकरणोंमें विषय-वर्णन इस प्रकार है :—

१. जीवसिद्धि—इसमें चार्वाकको लक्ष्य करके सहेतुक जीव (आत्मा) की सिद्धि की गई है और उसे भूतसंघातका कार्य माननेका निरसन किया गया है। इस प्रकरणमें २४ कारिकाएँ हैं।

२. फलभोक्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें बौद्धोंके क्षणिकवादमें दूषण दिये गये हैं। कहा गया है कि क्षणिक चित्तसन्तानरूप आत्मा धर्मादिजन्य स्वर्गादि फलका भोक्ता नहीं बन सकता, क्योंकि धर्मादि करनेवाला चित्त क्षणध्वंसी है—वह उसी समय नष्ट हो जाता है और यह नियम है कि 'कर्त्ता ही फलभोक्ता होता है' अतः आत्माको कथंचित् नाशशील—सर्वथा नाशशील नहीं—स्वीकार करना चाहिए। और उस हालतमें कर्तृत्व और फलभोक्तृत्व दोनों एक (आत्मा) में बन सकते हैं। यह प्रकरण ४४ कारिकाओंमें पूरा हुआ है।

३. युगपदनेकान्तसिद्धि—इसमें वस्तुको युगपत्—एक साथ वास्तविक अनेकधर्मात्मक सिद्ध किया गया है और बौद्धाभिमत अपोह, सन्तान, सादृश्य तथा संवृति आदिकी युक्तिपूर्ण समीक्षा करते हुए चित्तक्षणोंको निरन्वय एवं निरंश स्वीकार करनेमें एक दूषण यह दिया गया है कि जब चित्तक्षणोंमें अन्वय (व्यापिद्रव्य) नहीं है—वे परस्पर सर्वथा भिन्न हैं तो 'दाताको ही स्वर्ग और वधकको ही नरक हो' यह नियम नहीं बन सकता। प्रत्युत इसके विपरीत भी सम्भव है—दाताको नरक और वधकको स्वर्ग क्यों न हो? इस प्रकरणमें ७४ कारिकाएँ हैं।

४. क्रमानेकान्तसिद्धि—इसमें वस्तुको क्रमसे वास्तविक अनेक धर्मोंवाली सिद्ध किया है। यह प्रकरण भी तीसरे प्रकरणकी तरह क्षणिकवादी बौद्धोंको लक्ष्य करके लिखा गया है। इसमें कहा गया है कि यदि पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें एक अन्वयी द्रव्य न हो तो न तो उपादानोपादेयभाव बन सकता है, न प्रत्यभिज्ञा बनती है, न स्मरण बनता है और न व्याप्तिग्रहण ही बनता है, क्योंकि क्षणिकैकान्तमें उन (पूर्व और उत्तर पर्यायों) में एकता सिद्ध नहीं होती, और ये सब उसी समय उपपन्न होते हैं जब उनमें एकता (अनुस्यूतरूपसे रहनेवाला एकपना) हो। अतः जिस प्रकार मिट्टी क्रमवर्ती स्थास-कोश-कुशूल-कपाल-घटादि अनेक पर्याय-धर्मोंसे युक्त है उसी प्रकार समस्त वस्तुएँ भी क्रमसे नानाधर्मात्मक हैं और वे नाना धर्म उनके उसी तरह वास्तविक हैं जिस तरह मिट्टीके स्थासादिक।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वादीभसिंहकी तरह विद्यानन्दने[1] भी अनेकान्तके दो भेद बतलाये

---

१. गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये ॥—तत्त्वार्थश्लो० श्लो० ४३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं—एक सहानेकान्त और दूसरा क्रमानेकान्त। और इन दोनों अनेकान्तोंकी प्रसिद्धि एवं मान्यताको उन्होंने श्रीगृद्धपिच्छाचार्यके 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' [त० सू० ५-३७] इस सूत्रकथनसे समर्थित किया है अथवा सूत्रकारके कथनको उक्त दो अनेकान्तोंकी दृष्टिसे सार्थक बतलाया है। अतः युगपदेनकान्त और क्रमानेकान्तरूप दो अनेकान्तोंकी प्रस्तुत चर्चा जैन दर्शनकी एक बहुत प्राचीन चर्चा मालूम होती है जिसका स्पष्ट उल्लेख इन दोनों आचार्यों द्वारा ही हुआ जान पड़ता है। यह प्रकरण ८९½ कारिकाओंमें समाप्त है।

५. भोक्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें सर्वथा नित्यवादीको लक्ष्य करके उसके नित्यैकान्तकी समीक्षा की गई है। कहा गया है कि यदि आत्मादि वस्तु सर्वथा नित्य—कूटस्थ—सदा एक-सी रहने वाली—अपरिवर्तनशील हो तो वह न कर्ता बन सकती है और न भोक्ता। कर्ता माननेपर भोक्ता और भोक्ता माननेपर कर्ताके अभावका प्रसङ्ग आता है, क्योंकि कर्तापन और भोक्तापन ये दोनों क्रमवर्ती परिवर्तन हैं और वस्तु नित्यवादियोंद्वारा सर्वथा अपरिवर्तनशील—नित्य मानी गई है। यदि वह कर्तापनका त्यागकर भोक्ता बने तो वह नित्य नहीं रहती—अनित्य हो जाती है, क्योंकि कर्तापन आदि वस्तुसे अभिन्न हैं। यदि भिन्न हों तो वे आत्माके सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उनमें समवायादि कोई सम्बन्ध नहीं बनता। अतः नित्यैकान्तमें आत्माके भोक्तापन आदिका अभाव सिद्ध है। इस प्रकरणमें ३२ कारिकाएँ हैं।

६. सर्वज्ञाभावसिद्धि—इसमें नित्यवादी नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसकोंको लक्ष्य करके उनके स्वीकृत नित्यैकान्त प्रमाण (आत्मा-ईश्वर अथवा वेद) में सर्वज्ञताका अभाव प्रतिपादन किया गया है। इसमें २२ कारिकाएँ हैं।

७. जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें ईश्वर जगत्कर्ता सिद्ध नहीं होता, यह बतलाया गया है। इसमें भी २२ कारिकाएँ है।

८. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि—इसमें सप्रमाण अर्हन्तको सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है और विभिन्न बाधाओंका निरसन किया गया है। इसमें २१ कारिकाएँ हैं।

९. अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि—नवाँ प्रकरण अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि है। इसमें सर्वज्ञादिकी साधक अर्थापत्तिको प्रमाण सिद्ध करते हुए उसे अनुमान प्रतिपादित किया गया है और उसे माननेकी खास आवश्यकता बतलाई गई है। कहा गया है कि जहाँ अर्थापत्ति (अनुमान) का उत्थापक अन्यथानुपपन्नत्व-अविनाभाव होता है वहीं साधन साध्यका गमक होता है। अत एव उसके न होने और अन्य पक्षधर्मत्वादि तीन रूपोंके होने पर भी 'वह श्याम होना चाहिये, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह' इस अनुमानमें प्रयुक्त 'उसका पुत्र होना' रूप साधन अपने 'श्यामत्व' रूप साध्यका गमक नहीं है। अतः अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है—प्रमाण है और वह अनुमानस्वरूप है। इस प्रकरणमें २३ कारिकाएँ हैं।

१०. वेदपौरुषेयत्वसिद्धि—दशवां प्रकरण वेदपौरुषेयत्वसिद्धि हैं। इसमें वेदको सयुक्तिक पौरुषेय सिद्ध किया गया है। और उसकी अपौरुषेय-मान्यताकी मार्मिक मीमांसा की गई है। यह प्रकरण ३९ कारिकाओंमें समाप्त है।

११. परतः प्रामाण्यसिद्धि—ग्यारहवाँ प्रकरण परतः प्रामाण्यसिद्धि है। इसमें मीमांसकोंके स्वतः प्रामाण्य मतकी कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रन्थके उद्धरणपूर्वक कड़ी आलोचना करते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम) प्रमाणोंमें गुणकृत प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। इस प्रकरणमें २८ कारिकाएँ हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२ **अभावप्रमाणदूषणसिद्धि**—बारहवां प्रकरण अभावप्रमाणदूषणसिद्धि है। इसमें सर्वज्ञका अभाव बतलानेके लिये भाट्टोंद्वारा प्रस्तुत अभावप्रमाणमें दूषण प्रदर्शित किये गये हैं और उसकी अतिरिक्त प्रमाणताका निराकरण किया गया है। इसमें १६ कारिकाएँ निबद्ध हैं।

१३. **तर्कप्रामाण्यसिद्धि**—तेरहवां प्रकरण तर्कप्रामाण्यसिद्धि है। इसमें अविनाभावरूप व्याप्तिका निश्चय करानेवाले तर्कको प्रमाण सिद्ध किया गया है और यह बतलाया गया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अविनाभावका ग्रहण नहीं हो सकता। इसमें २१ कारिकाएँ हैं।

१४.………चौदहवां प्रकरण अधूरा है और इसलिये इसका अन्तिम समाप्तिपुष्पिकावाक्य उपलब्ध न होनेसे यह ज्ञात नहीं होता कि इसका नाम क्या है? इसमें प्रधानतया वैशेषिकके गुण-गुणीभेदादि और समवायादिकी समालोचना की गई है। अतः सम्भव है इसका नाम 'गुण-गुणीअभेदसिद्धि' हो। इसमें ७० कारिकाएँ उपलब्ध हैं। इसकी अन्तिम कारिका, जो खण्डित एवं त्रुटित रूपमें है, इस प्रकार है—

तद्विशेषणभावाख्यसम्बन्धे तु न च (चा?) स्थितः।
समवा………………………………………॥ ७० ॥

ब्रह्मदूषणसिद्धि—उपलब्ध रचनामें उक्त प्रकरणके बाद यह प्रकरण पाया जाता है। मूडबिद्रीकी ताडपत्र-प्रतिमें उक्त प्रकरणकी उपर्युक्त 'तद्विशेषण' आदि कारिकाके बाद इस प्रकरणकी 'तन्नो चेद्ब्रह्म-निर्णीति' आदि ५२वीं कारिकाके पूर्वार्द्ध तक सात पत्र त्रुटित हैं। इन सात पत्रोंमें मालूम नहीं कितनी कारिकाएँ और प्रकरण नष्ट हैं। एक पत्रमें लगभग ५० कारिकाएँ पाई जाती हैं और इस हिसाबसे सात पत्रोंमें ५० × ७ = ३५० के करीब कारिकाएँ होनी चाहिये और प्रकरण कितने होंगे, यह कहा नहीं जा सकता। अतएव यह '**ब्रह्मदूषणसिद्धि**' प्रकरण कौनसे नम्बर अथवा संख्यावाला है, यह बतलाना भी अशक्य है। इसका ५१½ कारिकाओं जितना प्रारम्भिक अंश नष्ट है। ब्रह्मवादियोंको लक्ष्य करके इसमें उनके अभिमत ब्रह्ममें दूषण दिखाये गये हैं। यह १८९ (त्रुटित ५१½ + उपलब्ध १३७½ =) कारिकाओंमें पूर्ण हुआ है और उपलब्ध प्रकरणोंमें सबसे बड़ा प्रकरण है।

अन्तिम प्रकरण—उक्त प्रकरणके बाद इसमें एक प्रकरण और पाया जाता है और जो खण्डित है तथा जिसमें सिर्फ आरम्भिक ६½ कारिकाएँ उपलब्ध हैं। इसके बाद ग्रन्थ खण्डित और अपूर्ण हालतमें विद्यमान है। चौदहवें प्रकरणकी तरह इस प्रकरणका भी समाप्तिपुष्पिकावाक्य अनुपलब्ध होनेसे इसका नाम ज्ञात नहीं होता। उपलब्ध कारिकाओंसे मालूम होता है कि इसमें स्याद्वादका प्ररूपण और बौद्धदर्शनके अपोहादिका खण्डन होना चाहिए।

अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख

ग्रन्थकारने इस रचनामें अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रंथवाक्योंका भी उल्लेख किया है। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिल भट्ट और प्रभाकरका नामोल्लेख करके उनके अभिमत भावना और नियोगरूप वेदवाक्यार्थका निम्न प्रकार खण्डन किया है—

नियोग-भावनारूपं भिन्नमर्थद्वयं तथा
भट्ट-प्रभाकराभ्यां हि वेदार्थत्वेन निश्चितम् ॥६-१९॥

इसी तरह अन्य तीन जगहोंपर कुमारिल भट्टके मीमांसाश्लोकवार्त्तिकसे 'वार्तिक' नामसे अथवा उसके बिना नामसे भी तीन कारिकाएँ उद्धृत करके समालोचित हुई हैं और जिन्हें ग्रन्थका अङ्ग बना लिया गया है। वे कारिकाएँ ये हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(क) 'यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ॥'—मी० श्लो० अ० ७, का० ३५५।
इत्यस्मादनुमानात्स्याद्वेदस्यापौरुषेयता ।१०-३७।
(ख) 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्ततोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥'
—मी० श्लो० सू० २, का० ४७।
इति वार्तिकसद्भावात्·····························—१-११ ।
(ग) 'शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्र्यधीन इति स्थितिः ।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥'—मी०श्लो०सू० २, का० ६२।
इति वार्त्तिकतः शब्द··· ···························।—११-२०।

इसी तरह प्रशस्तकर[1], दिग्नाग[2], धर्मकीर्ति[3] जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थकारोंके पाद-वाक्यादिकोंके भी उल्लेख इसमें पाये जाते हैं।

स्याद्वादसिद्धिः हिन्दी–सारांश

१. जीव-सिद्धि

मङ्गलाचरण—श्रीवर्द्धमानस्वामीके लिये मेरा नम्र नमस्कार है जो विश्ववेदी (सर्वज्ञ) हैं, नित्यानन्दस्वभाव हैं और भक्तोंको अपने समान बनानेवाले हैं—उनकी जो भक्ति एवं उपासना करते हैं वे उन जैसे उत्कृष्ट आत्मा (परमात्मा) बन जाते हैं।

---

१. 'इह शाखासु वृक्षोऽयमिति सम्बन्धपूर्विका ।
बुद्धिरिहेदंबुद्धित्वात्कुण्डे दधीति बुद्धिवत् ॥'५–८॥

इसमें प्रशस्तकरके प्रशस्तपादभाष्यगत समवायलक्षणकी सिद्धि प्रदर्शित है। तथा आगेकी कारिकाओंमें उनके 'अयुतसिद्धि' विशेषणकी आलोचना भी की गई है।

२, 'विकल्पयोनयः शब्दा इति बौद्धवचः श्रुतेः ।
कल्पनाया विकल्पत्वान्न हि बुद्धस्य वक्तृता ॥'७–५॥

इस कारिकामें जिस 'विकल्पयोनयः शब्दाः' वाक्यको बौद्धका वचन कहा गया है वह वाक्य निम्न कारिकाका वाक्यांश है—

'विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः ।
तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥'

यह कारिका न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५३७) आदि ग्रंथोंमें उद्धृत है। ८वीं-९वीं शतीके विद्वान् हरिभद्रने भी इसे अनेकान्तजयपताका (पृ० ३३७) में उद्धृत किया है और उसे भदन्त दिन्नकी बतलाई है। भदन्त दिन्न सम्भवतः दिग्नागको ही कहा गया है। इस कारिकामें प्रतिपादित सिद्धान्त (शब्द और अर्थके सम्बन्धाभाव)को दिग्नागके अनुगामी धर्मकीर्तिने भी अपने प्रमाणवार्तिक (३-२०४) में वर्णित किया है।

३. 'विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्तये ।
इत्यादिवाक्यसद्भावात्स्याद्धि बुद्धेऽप्यवक्तृता ॥'७-४।

इस कारिकाका पूर्वार्ध प्रमाणवार्तिक १-१ का पूर्वार्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थका उद्देश्य--संसारके सभी जीव सुख चाहते हैं, परन्तु उसका उपाय नहीं जानते। अतः प्रस्तुत ग्रन्थद्वारा सुखके उपायका कथन किया जाता है क्योंकि बिना कारणके कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता।

ग्रन्थारम्भ--यदि प्राणियोंको प्राप्त सुख-दुखादिरूप कार्य बिना कारणके हों तो किसीको ही सुख और किसीको ही दुःख क्यों होता है, सभीको केवल सुख ही अथवा केवल दुःख ही क्यों नहीं होता ? तात्पर्य यह कि संसारमें जो सुखादिका वैषम्य—कोई सुखी और कोई दुखी—देखा जाता है वह कारणभेदके बिना सम्भव नहीं है।

तथा कोई कफप्रकृतिवाला है, कोई वातप्रकृतिवाला है और कोई पित्तप्रकृतिवाला है सो यह कफादिकी विषमतारूप कार्य भी जीवोंके बिना कारणभेदके नहीं बन सकता है और जो स्त्री आदिके सम्पर्कसे सुखादि माना जाता है वह भी बिना कारणके असम्भव है, क्योंकि स्त्री कहीं अन्तक--घातकका भी काम करती हुई देखी जाती है--किसीको वह विषादि देकर मारनेवाली भी होती है।

क्या बात है कि सर्वाङ्ग सुन्दर होनेपर भी कोई किसीके द्वारा ताड़न-वध-बन्धनादिको प्राप्त होता है और कोई तोता, मैना आदि पक्षी अपने भक्षकोंद्वारा भी रक्षित होते हुए बड़े प्रेमसे पाले-पोषे जाते हैं ?

अतः इन सब बातोंसे प्राणियोंके सुख-दुःखके अन्तरङ्ग कारण धर्म और अधर्म अनुमानित होते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है--धर्म और अधर्म हैं, क्योंकि प्राणियोंको सुख अथवा दुःख अन्यथा नहीं हो सकता।' जैसे पुत्रके सद्भावसे उसके पितारूप कारणका अनुमान किया जाता है।

चार्वाक--अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें व्यभिचार (अर्थके अभावमें होना) देखा जाता है ?

जैन--यह बात तो प्रत्यक्षमें भी समान है, क्योंकि उसमें भी व्यभिचार देखा जाता है--सीपमें चांदीका, रज्जुमें सर्पका और बालोंमें कीड़ोंका प्रत्यक्षज्ञान अर्थके अभावमें भी देखा गया है और इसलिए प्रत्यक्ष तथा अनुमानमें कोई विशेषता नहीं है जिससे प्रत्यक्षको तो प्रमाण कहा जाय और अनुमानको अप्रमाण।

चार्वाक--जो प्रत्यक्ष निर्बाध है वह प्रमाण माना गया है और जो निर्बाध नहीं है वह प्रमाण नहीं माना गया। अतएव सीपमें चांदीका आदि प्रत्यक्षज्ञान निर्बाध न होनेसे प्रमाण नहीं है ?

जैन--तो जिस अनुमानमें बाधा नहीं है--निर्बाध है उसे भी प्रत्यक्षकी तरह प्रमाण मानिये, क्योंकि प्रत्यक्षविशेषकी तरह अनुमानविशेष भी निर्बाध सम्भव है। जैसे हमारे सद्भावसे पितामह (बाबा) आदिका अनुमान[1] निर्बाध माना जाता है।

इस तरह अनुमानके प्रमाण सिद्ध हो जानेपर उसके द्वारा धर्म और अधर्म सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि कार्य कर्ताकी अपेक्षा लेकर ही होता है--उसकी अपेक्षा लिये बिना वह उत्पन्न नहीं होता और तभी वे धर्माधर्म सुख-दुःखादिके जनक होते हैं। अतः अर्थापत्तिरूप अनुमान प्रमाणसे हम सिद्ध करते हैं कि--'धर्मादिका कर्ता जीव है, क्योंकि सुखादि अन्यथा नहीं हो सकता।' प्रकट है कि जीवमें धर्मादिसे सुखादि होते हैं, अतः वह उनका कर्त्ता है, था और आगे भी होगा और इस तरह परलोकी नित्य आत्मा (जीव) सिद्ध होता है।

---

१. 'हमारे पितामह, प्रपितामह आदि थे, क्योंकि हमारा सद्भाव अन्यथा नहीं हो सकता था।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवकी सिद्धि एक दूसरे अनुमानसे भी होती है और जो निम्न प्रकार है :—

'जीव पृथिवी आदि पंच भूतोंसे भिन्न तत्त्व है, क्योंकि वह सत् होता हुआ चैतन्यस्वरूप है और अहेतुक (नित्य) है।'

आत्माको चैतन्यस्वरूप माननेमें चार्वाकको भी विवाद नहीं है, क्योंकि उन्होंने भी भूतसंहतिसे उत्पन्न विशिष्ट कार्यको ज्ञानरूप माना है। किंतु ज्ञान भूतसंहतिरूप शरीरका कार्य नहीं है, क्योंकि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे वह शरीरका कार्य प्रतीत नहीं होता। प्रकट है कि जिस इन्द्रियप्रत्यक्षसे मिट्टी आदिका ग्रहण होता है उसी इन्द्रियप्रत्यक्षसे उसके घटादिक विकाररूप कार्योंका भी ग्रहण होता है और इसलिये घटादिक मिट्टी आदिके कार्य माने जाते हैं। परन्तु यह बात शरीर और ज्ञानमें नहीं है—शरीर तो इन्द्रियप्रत्यक्षसे ग्रहण किया जाता है और ज्ञान स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे। यह कौन नहीं जानता कि शरीर तो आँखोंसे देखा जाता है किंतु ज्ञान आँखोंसे देखनेमें नहीं आता।[१] अतः दोनोंकी विभिन्न प्रमाणोंसे प्रतीति होनेसे उनमें परस्पर कारणकार्यभाव नहीं है। जिनमें कारणकार्यभाव होता है वे विभिन्न प्रमाणोंसे गृहीत नहीं होते। अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा भूतसंहतिरूप शरीरका कार्य नहीं है। और इसलिये वह अहेतुक—नित्य भी सिद्ध है।

चार्वाक—यदि ज्ञान शरीरका कार्य नहीं है तो न हो पर वह शरीरका स्वभाव अवश्य है और इसलिये वह शरीरसे भिन्न तत्त्व नहीं है, अतः उक्त हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध है ?

जैन—नहीं, दोनोंकी पर्यायें भिन्न भिन्न देखी जाती हैं, जिस तरह शरीरसे बाल्यादि अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं उस तरह रागादिपर्यायें उससे उत्पन्न नहीं होतीं—वे चैतन्यस्वरूप आत्मासे ही उत्पन्न होती हैं किन्तु जो जिसका स्वभाव होता है वह उससे भिन्न पर्यायवाला नहीं होता। जैसे सड़े महुआ और गुडादिकसे उत्पन्न मदिरा उनका स्वभाव होनेसे भिन्न द्रव्य नहीं है और न भिन्न पर्यायवाली है। अतः सिद्ध है कि ज्ञान शरीरका स्वभाव नहीं है।

अतएव प्रमाणित होता है कि आत्मा भूतसंघातसे भिन्न तत्त्व है और वह उसका न कार्य है तथा न स्वभाव है।

इस तरह परलोकी नित्य आत्माके सिद्ध हो जानेपर स्वर्ग-नरकादिरूप परलोक भी सिद्ध हो जाता है। अतः चार्वाकोंको उनका निषेध करना तर्कयुक्त नहीं है। इसलिये जो जीव सुख चाहते हैं उन्हें उसके उपायभूत धर्मको अवश्य करना चाहिए, क्योंकि बिना कारणके कार्य उत्पन्न नहीं होता' यह सर्वमान्य सिद्धान्त है और जिसे ग्रन्थके आरम्भमें ही हम ऊपर कह आये हैं।

२. फलभोक्तृत्वाभावसिद्धि

बौद्ध आत्माको भूतसंघातसे भिन्न तत्त्व मानकर भी उसे सर्वथा क्षणिक—अनित्य स्वीकार करते हैं, परन्तु वह युक्त नहीं है; क्योंकि आत्माको सर्वथा क्षणिक माननेमें न धर्म बनता है और न धर्मफल बनता है। स्पष्ट है कि उनके क्षणिकत्वसिद्धान्तानुसार जो आत्मा धर्म करनेवाला है वह उसी समय नष्ट

१. शरीरे दृश्यमानेऽपि न चैतन्यं विलोक्यते।
शरीरं न च चैतन्य यतो भेदस्तयोस्ततः ॥
चक्षुषा वीक्ष्यते गात्रं चैतन्यं संविदा यतः।
भिवज्ञानोपलम्भेन ततो भेदस्तयोः स्फुटम् ॥ ...पद्मपुराण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाता है और ऐसी हालतमें वह स्वर्गादि धर्मफलका भोक्ता नहीं हो सकता। और यह नियम है कि 'कर्ता ही फलभोक्ता होता है, अन्य नहीं।'

बौद्ध—यद्यपि आत्मा, जो चित्तक्षणोंके समुदायरूप है, क्षणिक है तथापि उसके कार्यकारणरूप सन्तानके होनेसे उसके धर्म और धर्मफल दोनों बन जाते हैं और इसलिये 'कर्ता ही फलभोक्ता होता है' यह नियम उपपन्न हो जाता है ?

जैन—अच्छा, तो यह बतलाइये कि कर्ताको फल प्राप्त होता है या नहीं ? यदि नहीं, तो फलका अभाव आपने भी स्वीकार कर लिया। यदि कहें कि प्राप्त होता है तो कर्त्ताके नित्यपनेका प्रसंग आता है, क्योंकि उसे फल प्राप्त करने तक ठहरना पड़ेगा। प्रसिद्ध है कि जो धर्म करता है उसे ही उसका फल मिलता है अन्यको नहीं। किंतु जब आप आत्माको निरन्वय क्षणिक मानते हैं तो उसके नाश हो जानेपर फल दूसरा चित्त ही भोगेगा, जो कर्त्ता नहीं है और तब 'कर्त्ताको ही फल प्राप्त होता है' यह कैसे सम्भव है ?

बौद्ध—जैसे पिताकी कमाईका फल पुत्रको मिलता है और यह कहा जाता है कि पिताको फल मिला उसी तरह कर्ता आत्माको भी फल प्राप्त हो जाता है ?

जैन—आपका यह केवल कहना मात्र है—उससे प्रयोजन कुछ भी सिद्ध नहीं होता। अन्यथा पुत्रके भोजन कर लेनेसे पिताके भी भोजन कर लेनेका प्रसंग आवेगा।

बौद्ध—व्यवहार अथवा संवृत्तिसे कर्ता फलभोक्ता बन जाता है, अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन—हमारा प्रश्न है कि व्यवहार अथवा संवृत्तिसे आपको क्या अर्थ विवक्षित है ? धर्मकर्ताको फल प्राप्त होता है, यह अर्थ विवक्षित है अथवा धर्मकर्ताको फल प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ इष्ट है या धर्मकर्ता-को कथंचित् फल प्राप्त होता है, यह अर्थ अभिप्रेत है ? प्रथमके दो पक्षोंमें वही दूषण आते हैं जो ऊपर कहे जा चुके हैं और इस लिये ये दोनों पक्ष तो निर्दोष नहीं हैं। तीसरा पक्ष भी बौद्धोंके लिये इष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उससे उनके क्षणिक सिद्धान्तकी हानि होती है और स्याद्वादमतका प्रसङ्ग आता है।

दूसरे, यदि संवृत्तिसे धर्मकर्ता फलभोक्ता हो तो संसार अवस्थामें जिस चित्तने धर्म किया था उसे मुक्त अवस्थामें भी संवृत्तिसे उसका फलभोक्ता मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि जिस संसारी चित्तने धर्म किया था उस संसारी चित्तको ही फल मिलता है मुक्त चित्तको नहीं, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि धर्मकर्ता संसारी चित्तको भी उसका फल नहीं मिल सकता। कारण, वह उसी समय नष्ट हो जाता है और फल भोगनेवाला संसारी चित्त दूसरा ही होता है फिर भी यदि आप उसे फलभोक्ता मानते हैं तो मुक्त चित्तको भी उसका फलभोक्ता कहिये, क्योंकि मुक्त और संसारी दोनों ही चित्त फलसे सर्वथा भिन्न तथा नाशकी अपेक्षासे परस्परमें कोई विशेषता नहीं रखते। यदि उनमें कोई विशेषता हो तो उसे बतलाना चाहिए।

बौद्ध—पूर्व और उत्तरवर्ती संसारी चित्तक्षणोंमें उपादानोपादेयरूप विशेषता है जो संसारी और मुक्त चित्तोंमें नहीं है और इसलिए उक्त दोष नहीं है ?

जैन—चित्तक्षण जब सर्वथा भिन्न और प्रतिसमय नाशशील हैं तो उनमें उपादानोपादेयभाव बन ही नहीं सकता है। तथा निरन्वय होनेसे उनमें एक सन्तति भी असम्भव है। क्योंकि हम आपसे पूछते हैं कि वह सन्तति क्या है ? सादृश्यरूप है या देश-काल सम्बन्धी अन्तरका न होना (नैरन्तर्य) रूप है अथवा एक कार्यको करना रूप है ? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है। कारण, निरंशवादमें सादृश्य सम्भव नहीं है—सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षण परस्पर विलक्षण और भिन्न-भिन्न माने गये हैं। अन्यथा पिता और पुत्रमें भी ज्ञानरूपसे सादृश्य होनेसे एक सन्ततिके माननेका प्रसङ्ग आवेगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि बौद्धोंके यहाँ देश और काल कल्पित माने गये हैं और तब उनकी अपेक्षासे होनेवाला नैरन्तर्य भी कल्पित कहा जायगा, किन्तु कल्पितसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है अन्यथा कल्पित अग्निसे दाह और मिथ्या सर्पदंशसे मरणरूप कार्य भी हो जाने चाहिए, किन्तु वे नहीं होते। एक कार्यको करनारूप सन्तति भी नहीं बनती; क्योंकि क्षणिकवादमें उस प्रकारका ज्ञान ही सम्भव नहीं है। यदि कहा जाय कि एकत्ववासनासे उक्त ज्ञान हो सकता है अर्थात् जहाँ 'सोऽहं'—'वही मैं हूँ' इस प्रकारका ज्ञान होता है वहीं उपादानोपादेयरूप सन्तति मानी गई है और उक्त ज्ञान एकत्ववासनासे होता है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है। वह इस प्रकार है—जब एकत्वज्ञान सिद्ध हो तब एकत्ववासना बने और जब एकत्ववासना बन जाय तब एकत्वज्ञान सिद्ध हो। और इस तरह दोनों ही असिद्ध रहते हैं। केवल कार्य-कारणरूपतासे सन्तति मानना भी उचित नहीं है, अन्यथा बुद्ध और संसारियोंमें भी एक सन्तानका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि उनमें कार्य-कारणभाव है—वे बुद्धके द्वारा जाने जाते हैं और यह नियम है कि जो कारण नहीं होता वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता—अर्थात् जाना नहीं जाता। तात्पर्य यह कि कारण ही ज्ञानका विषय होता है और संसारी बुद्धके विषय होनेसे वे कारण हैं तथा बुद्धचित्त उनका कार्य है अतः उनमें भी एक सन्ततिका प्रसंग आता है।

अतः आत्माको सर्वथा क्षणिक और निरन्वय माननेपर धर्म तथा धर्मफल दोनों ही नहीं बनते, किन्तु उसे कथंचित् क्षणिक और अन्वयी स्वीकार करनेसे वे दोनों बन जाते हैं। 'जो मैं बाल्यावस्था में था वही उस अवस्थाको छोड़कर अब मैं युवा हूँ।' ऐसा प्रत्यभिज्ञान नामका निर्बाध ज्ञान होता है और जिससे आत्मा कथंचित् नित्य तथा अनित्य प्रतीत होता है और प्रतीतिके अनुसार वस्तुकी व्यवस्था है।

३. युगपदनेकान्तसिद्धि

एक साथ तथा क्रमसे वस्तु अनेकधर्मात्मक है, क्योंकि सन्तान आदिका व्यवहार उसके बिना नहीं हो सकता। प्रकट है कि बौद्ध जिस एक चित्तको कार्यकारणरूप मानते हैं और उसमें एक सन्ततिका व्यवहार करते हैं वह यदि पूर्वोत्तर क्षणोंकी अपेक्षा नानात्मक न हो तो न तो एक चित्त कार्य एवं कारण दोनोंरूप हो सकता है और न उसमें सन्ततिका व्यवहार ही बन सकता है।

बौद्ध—बात यह है कि एक चित्तमें जो कार्यकारणादिका भेद माना गया है वह व्यावृत्तिद्वारा, जिसे अपोह अथवा अन्यापोह कहते हैं, कल्पित है वास्तविक नहीं ?

जैन—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि व्यावृत्ति अवस्तुरूप होनेसे उसके द्वारा भेदकल्पना सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्षादिसे उक्त व्यावृत्ति सिद्ध भी नहीं होती, क्योंकि वह अवस्तु है और प्रत्यक्षादिकी वस्तुमें ही प्रवृत्ति होती है।

बौद्ध—ठीक है कि प्रत्यक्षसे व्यावृत्ति सिद्ध नहीं होती, पर वह अनुमानसे अवश्य सिद्ध होती है और इसलिये वस्तुमें व्यावृत्ति-कल्पित ही धर्मभेद है ?

जैन—नहीं, अनुमानसे व्यावृत्तिकी सिद्धि माननेमें अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है। वह इस तरहसे है—व्यावृत्ति जब सिद्ध हो तो उससे अनुमानसम्पादक साध्यादि धर्मभेद सिद्ध हो और जब साध्यादि धर्मभेद सिद्ध हो तब व्यावृत्ति सिद्ध हो। अतः अनुमानसे भी व्यावृत्तिकी सिद्धि सम्भव नहीं है। ऐसी स्थितिमें उसके द्वारा धर्मभेदको कल्पित बतलाना असंगत है।

बौद्ध—विकल्प व्यावृत्तिग्राहक है, अतः उक्त दोष नहीं है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्पको आपने अप्रमाण माना है। अपि च, यह कल्पनात्मक व्यावृत्ति वस्तुओंमें सम्भव नहीं है अन्यथा वस्तु और अवस्तुमें साङ्कर्य हो जायगा।

इसके सिवाय, खण्डादिमें जिस तरह अगोनिवृत्ति है उसी तरह गुल्मादिमें भी वह है, क्योंकि उसमें कोई भेद नहीं है—भेद तो वस्तुनिष्ठ है और व्यावृत्ति अवस्तु है। और उस हालतमें 'गायको लाओ' कहनेपर जिसप्रकार खण्डादिका आनयन होता है उसीप्रकार गुल्मादिका भी आनयन होना चाहिये।

यदि कहा जाय कि 'अगोनिवृत्तिका खण्डादिमें संकेत हैं, अतः 'गायको लाओ' कहनेपर खण्डादिरूप गायका ही आनयन होता है, गुल्मादिका नहीं, क्योंकि वे अगो हैं—गो नहीं हैं' तो यह कहना भी संगत नहीं है, कारण अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है। खण्डादिमें गोपना जब सिद्ध हो जाय तो उससे गुल्मादिमें अगोपना सिद्ध हो और उनके अगो सिद्ध होनेपर खण्डादिमें गोपनाकी सिद्धि हो।

अगर यह कहें कि 'वहनादि कार्य खण्डादिमें ही सम्भव हैं, अतः 'गो' का व्यपदेश उन्हींमें होता है, गुल्मादिकमें नहीं' तो यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वह कार्य भी उक्त गुल्मादिमें क्यों नहीं होता, क्योंकि उस कार्यका नियामक अपोह ही है और वह अपोह सब जगह अविशिष्ट—समान है।

तात्पर्य यह कि अपोहकृत वस्तुमें धर्मभेदकी कल्पना उचित नहीं है, किन्तु स्वरूपतः ही उसे मानना संगत है। अतः जिस प्रकार एक ही चित्त पूर्व क्षणकी अपेक्षा कार्य और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कारण होनेसे एक साथ उसमें कार्यता और कारणतारूप दोनों धर्म वास्तविक सिद्ध होते हैं उसी प्रकार सब वस्तुएँ युगपत् अनेकधर्मात्मक सिद्ध हैं।

४. क्रमानेकान्तसिद्धि

पूर्वोत्तर चित्तक्षणोंमें यदि एक वास्तविक अनुस्यूतपना न हो तो उनमें एक सन्तान स्वीकार नहीं की जा सकती है और सन्तानके अभावमें फलाभाव निश्चित है क्योंकि करनेवाले चित्तक्षणसे फलभोगनेवाला चित्तक्षण भिन्न है और इसलिये एकत्वके बिना 'कर्ताको ही फलप्राप्ति' नहीं हो सकती।

यदि कहा जाय कि 'पूर्व क्षण उत्तर क्षणका कारण है, अतः उसके फलप्राप्ति हो जायगी' तो यह कहना ठीक नहीं हैं; क्योंकि कारणकार्यभाव तो पिता-पुत्रमें भी है और इसलिये पुत्रकी क्रियाका फल पिताको भी प्राप्त होनेका प्रसंग आयेगा।

बौद्ध—पिता-पुत्रमें उपादानोपादेयभाव न होनेसे पुत्रकी क्रियाका फल पिताको प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमें तो उपादानोपादेयभाव मौजूद है, अतः उनके फलका अभाव नहीं हो सकता?

जैन—यह उपादानोपादेयभाव सर्वथा भिन्न पूर्वोत्तर क्षणोंकी तरह पिता-पुत्रमें भी क्यों नहीं है, क्योंकि भिन्नता उभयत्र एक-सी है। यदि उसमें कथंचिद् अभेद मानें तो जैनपनेका प्रसंग आवेगा, कारण जैनोंने ही कथंचिद् अभेद उनमें स्वीकार किया है, बौद्धोंने नहीं।

बौद्ध—पिता-पुत्रमें सादृश्य न होनेसे उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं है, किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमें तो सादृश्य पाया जानेसे उनमें उपादानोपादेयभाव है। अतः उक्त दोष नहीं है?

जैन—यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि उक्त क्षणोंमें सादृश्य माननेपर उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं बन सकता। सादृश्यमें तो वह नष्ट ही हो जाता है। वास्तवमें सदृशता उनमें होती है जो भिन्न होते हैं और उपादानोपादेयभाव अभिन्न (एक) में होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध—बात यह है कि पिता-पुत्रमें देश-कालकी अपेक्षासे होनेवाला नैरन्तर्य नहीं है और उसके न होनेसे उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं है। किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमें नैरन्तर्य होनेसे उपादानोपादेयभाव है ?

जैन—यह कहना भी युक्त नहीं है, कारण बौद्धोंके यहाँ स्वलक्षणरूप क्षणोंसे भिन्न देशकालादिको नहीं माना गया है और तब उनकी अपेक्षासे कल्पित नैरन्तर्य भी उनके यहाँ नहीं बन सकता है। अतः उससे उक्त क्षणोंमें उपादानोपादेयभावकी कल्पना और पिता-पुत्रमें उसका निषेध करना सर्वथा असंगत है।

अतः कार्यकारणरूपसे सर्वथा भिन्न भी क्षणोंमें कार्यकारणभावकी सिद्धिके लिये उनमें एक अन्वयी द्रव्यरूप सन्तान अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

एक बात और है। जब आप क्षणोंमें निर्बाध प्रत्ययसे भेद स्वीकार करते हैं तो उनमें निर्बाध प्रत्ययसे ही अभेद (एकत्व—एकपना) भी मानना चाहिए; क्योंकि वे दोनों ही वस्तुमें सुप्रतीत होते हैं।

यदि कहा जाय कि दोनोंमें परस्पर विरोध होनेसे वे दोनों वस्तुमें, नहीं माने जा सकते हैं तो यह कहना भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि अनुपलभ्यमानोंमें विरोध होता है, उपलभ्यमानोंमें नहीं। और भेद अभेद दोनों वस्तुमें उपलब्ध होते हैं। अतः भेद और अभेद दोनों रूप वस्तु मानना चाहिए।

यहाँ एक बात और विचारणीय है। वह यह कि आप (बौद्धों) के यहाँ सत् कार्य माना गया है या असत् कार्य ? दोनों ही पक्षोंमें आकाश तथा खरविषाणकी तरह कारणापेक्षा सम्भव नहीं है।

यदि कहें कि पहले असत् और पीछे सत् कार्य हमारे यहाँ माना गया है तो आपका क्षणिकत्व सिद्धान्त नहीं रहता; क्योंकि वस्तु पहले और पीछे विद्यमान रहनेपर ही वे दोनों (सत्त्व और असत्त्व) वस्तुके बनते हैं। किन्तु स्याद्वादी जैनोंके यहाँ यह दोष नहीं है, कारण वे कार्यको व्यक्ति (विशेष) रूपसे असत् और सामान्यरूपसे सत् दोनों रूप स्वीकार करते हैं और इस स्वीकारसे उनके किसी भी सिद्धान्तका घात नहीं होता। अतः इससे भी वस्तु नानाधर्मात्मिक सिद्ध है।

बौद्धोंने जो चित्रज्ञान स्वीकार किया है उसे उन्होंने नानात्मक मानते हुए कार्यकारणतादि अनेक-धर्मात्मक प्रतिपादन किया है। इसके सिवाय, उन्होंने रूपादिको भी नानाशक्त्यात्मक बतलाया है। एक रूप-क्षण अपने उत्तरवर्ती रूपक्षणमें उपादान तथा रसादिक्षणमें सहकारी होता है और इस तरह एक ही रूपादि क्षणमें उपादानत्व और सहकारित्व दोनों शक्तियाँ उनके द्वारा मानी गई हैं।

यदि रूपादि क्षण सर्वथा भिन्न हों, उनमें कथंचिद् भी अभेद—एकपना न हो, तो संतान, सादृश्य साध्य, साधन और उनकी क्रिया ये एक भी नहीं बन सकते हैं। न ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि बन सकते हैं अतः क्षणोंकी अपेक्षा अनेकान्त और अन्वयी रूपकी अपेक्षा एकान्त दोनों वस्तुमें सिद्ध हैं। एक ही हेतु अपने साध्यकी अपेक्षा गमक और इतरकी अपेक्षा अगमक दोनों रूप देखा जाता है। वास्तवमें यदि वस्तु एकानेकात्मक न हो तो स्मरणादि असम्भव हैं। अतः स्मरणादि अन्यथानुपपत्तिके बलसे वस्तु अनेकान्तात्मक प्रसिद्ध होती है और अन्यथानुपपत्ति ही हेतुकी गमकतामें प्रयोजक है, पक्षधर्मत्वादि नहीं। कृत्तिकोदय हेतुमें पक्षधर्मत्व नहीं है किंतु अन्यथानुपपत्ति है, अतः उसे गमक स्वीकार किया गया है। और तत्पुत्रत्वादि हेतुमें पक्षधर्मत्वादि तीनों हैं, पर अन्यथानुपपत्ति नहीं है और इसलिये उसे गमक स्वीकार नहीं किया गया है।

अतएव हेतु, साध्य, स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि चित्तक्षणोंमें एकपनेके बिना नहीं बन सकते हैं, इस लिये वस्तुमें क्रमसे अनेकान्त भी सहानेकान्तकी तरह सुस्थित होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. भोक्तृत्वाभावसिद्धि

वस्तुको सर्वथा नित्य मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस हालतमें आत्माके कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों नहीं बन सकते हैं। कर्तृत्व माननेपर भोक्तृत्व और भोक्तृत्व माननेपर कर्तृत्वके अभावका प्रसंग आता है; क्योंकि ये दोनों धर्म आत्मामें एक साथ नहीं होते--क्रमसे होते हैं और क्रमसे उन्हें स्वीकार करनेपर वस्तु नित्य नहीं रहती। कारण, कर्तृत्वको छोड़कर भोक्तृत्व और भोक्तृत्वको त्यागकर कर्तृत्व होता है और ये दोनों ही आत्मासे अभिन्न होते हैं। यदि उन्हें भिन्न मानें तो 'वे आत्माके हैं अन्यके नहीं' यह व्यवहार उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि उनका आत्माके साथ समवाय सम्बन्ध है और इसलिये 'वे आत्माके हैं, अन्यके नहीं' यह व्यपदेश हो जाता है तो यह कहना योग्य नहीं है, क्योंकि उक्त समवाय प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे प्रतीत नहीं होता। यदि प्रत्यक्षसे प्रतीत होता तो उसमें विवाद हो नहीं होता, किंतु विवाद देखा जाता है।

यौग--आगमसे समवाय सिद्ध है, अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन--नहीं, जिस आगमसे वह सिद्ध है उसकी प्रमाणता अनिश्चित है। अतः उससे समवायकी सिद्धि बतलाना असंगत है।

यौग--समवायकी सिद्धि निम्न अनुमानसे होती है :--'इन शाखाओंमें यह वृक्ष है' यह बुद्धि सम्बन्धपूर्वक है, क्योंकि वह 'इहेदं' बुद्धि है। जैसे 'इस कुण्डमें यह दही है' यह बुद्धि। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार 'इस कुण्डमें यह दही है' यह ज्ञान संयोगसम्बन्धके निमित्तसे होता है इसी प्रकार 'इन शाखाओंमें यह वृक्ष है', यह ज्ञान भी समवायसम्बन्धपूर्वक होता है। अतः समवाय अनुमानसे सिद्ध है ?

जैन--नहीं, उक्त हेतु 'इस वनमें यह आम्रादि हैं' इस ज्ञानके साथ व्यभिचारी है क्योंकि यह ज्ञान 'इहेदं' रूप तो है किन्तु किसी अन्य सम्बन्ध-पूर्वक नहीं होता और न यौगोंने उनमें समवाय या अन्य सम्बन्ध स्वीकार किया भी है। केवल उसे उन्होंने अन्तरालाभावपूर्वक प्रतिपादन किया है और यह प्रकट है कि अन्तरालाभाव सम्बन्ध नहीं है। अतः इस अन्तरालाभावपूर्वक होनेवाले 'इहेदं' रूप ज्ञानके साथ उक्त हेतु व्यभिचारी होनेसे उसके द्वारा समवायकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

ऐसी हालतमें बुद्धयादि एवं कर्तृत्वादिसे आत्मा भिन्न ही रहेगा और तब जड़ आत्मा धर्मकर्ता अथवा फल-भोक्ता कैसे बन सकता है ? अतः क्षणिकैकान्तकी तरह नित्यैकान्तका मानना भी निष्फल है।

अपि च, आप यह बतलाइये कि समवाय क्या काम करता है ? आत्मा और बुद्धयादिमें अभेद करता है अथवा उनके भेदको मिटाता है ? अन्य विकल्प सम्भव नहीं है ? प्रथम पक्षमें बुद्धयादकी तरह आत्म अनित्य हो जायगा अथवा आत्माकी तरह बुद्धयादि नित्य हो जायेंगे; क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। दूसरे पक्षमें आत्मा और बुद्धयादिके भेद मिटनेपर घट-पटादिकी तरह वे दोनों स्वतंत्र हो जायेंगे। अतः समवायसे पहले इनमें न तो भेद ही माना जा सकता है और न अभेद ही, क्योंकि उक्त दूषण आते हैं। तथा भेदाभेद उनमें आपने स्वीकार नहीं किया तब समवायको माननेसे क्या फल है ?

यौग--भेदको हमने अन्योन्याभावरूप माना है अतः आत्मा और बुद्धयादिमें स्वतंत्रपनेका प्रसंग नहीं आता ?

जैन--यह कहना भी आपका ठीक नहीं है, क्योंकि अन्योन्याभावमें भी घट-पटादिकी तरह स्वतन्त्रता रहेगी--वह मिट नहीं सकती। यदि वह मिट भी जाय तो अभेद होनेसे उक्त नित्यता-अनित्यताका दोष तदवस्थित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यौग—पृथक्त्वगुणसे उनमें भेद बन जाता है अतः अभेद होनेका प्रसंग नहीं आता और न फिर उसमें उक्त दोष रहता है ?

जैन—नहीं, पृथक्त्वगुणसे भेद माननेपर पूर्ववत् आत्मा और बुद्धयादिमें घटादिकी तरह भेद प्रसक्त होगा ही।

एक बात और है। समवायसे आत्मामें बुद्धचादिका सम्बन्ध माननेपर मुक्त जीवमें भी उनका सम्बन्ध मानना पड़ेगा, क्योंकि वह व्यापक और एक है।

यौग—बुद्धचादि अमुक्त-प्रभव धर्म हैं, अतः मुक्तोंमें उनके सम्बन्धका प्रसंग खड़ा नहीं हो सकता है ?

जैन—नहीं, बुद्धचादि मुक्तप्रभव धर्म क्यों नहीं हैं, इसका क्या समाधान है ? क्योंकि बुद्धचादिका जनक आत्मा है और वह मुक्त तथा अमुक्त दोनों अवस्थाओंमें समान है। अन्यथा जनकस्वभावको छोड़ने और अजनकस्वभावको ग्रहण करनेसे आत्माके नित्यपनेका अभाव आवेगा।

यौग—बुद्धचादि अमुक्त समवेतधर्म हैं, इसलिये वे अमुक्त-प्रभव—मुक्तप्रभव नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है। बुद्धचादि जब अमुक्तसमवेत सिद्ध हो जायें तब वे अमुक्त-प्रभव सिद्ध हों और उनके अमुक्तप्रभव सिद्ध होनेपर वे अमुक्त-समवेत सिद्ध हों। अतः समवायसे आत्मा तथा बुद्धचादिमें अभेदादि माननेमें उक्त दूषण आते हैं और ऐसी दशामें वस्तुको सर्वथा नित्य माननेपर धर्मकर्ताके फलका अभाव सुनिश्चित है।

६. सर्वज्ञाभावसिद्धि

नित्यैकान्तका प्रणेता—उपदेशक भी सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि वह समीचीन अर्थका कथन करनेवाला नहीं है। दूसरी बात यह है कि वह सरागी भी है। अतः हमारी तरह दूसरोंको भी उसकी उपासना करना योग्य नहीं है।

सोचनेकी बात है कि जिसने अविचारपूर्वक स्त्री आदिका अपहरण करनेवाला तथा उसका नाश करनेवाला दोनों बनाये वह अपनी तथा दूसरोंकी अन्योंसे कैसे रक्षा कर सकता है ?

साथ ही जो उपद्रव एवं झगड़े कराता है वह विचारक तथा सर्वज्ञ नहीं हो सकता। यह कहना युक्त नहीं कि वह उपद्रवरहित है, क्योंकि ईश्वरके कोपादि देखा जाता है।

अतः यदि ईश्वरको आप इन सब उपद्रवोंसे दूर वीतराग एवं सर्वज्ञ मानें तो उसीको उपास्य भी स्वीकार करना चाहिये, अन्य दूसरेको नहीं। रत्नका पारखी काचका उपासक नहीं होता।

यह वीतराग—सर्वज्ञ ईश्वर भी निरुपाय नहीं है। अन्यथा वह न वक्ता बन सकता है और न सशरीरी। उसे वक्ता माननेपर वह सदा वक्ता रहेगा—अवक्ता कभी नहीं बन सकेगा।

यदि कहा जाय कि वह वक्ता और अवक्ता दोनों है, क्योंकि वह परिणामी है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण, इस तरह वह नित्यानित्यरूप सिद्ध होनेसे स्याद्वादकी ही सिद्धि करेगा—कूटस्थ नित्यकी नहीं।

अपि च, उसे कूटस्थ नित्य माननेपर उसके वक्तापन बनता भी नहीं है, क्योंकि उसको सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण नहीं है। आगमको प्रमाण माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्ट है कि जब वह सर्वज्ञ सिद्ध हो जाय तो उसका उपदेशरूप आगम प्रमाण सिद्ध हो और जब आगम प्रमाण सिद्ध हो तब वह सर्वज्ञ सिद्ध हो।

इसी तरह शरीर भी उसके नहीं बनता है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि वेदरूप आगम प्रमाण नहीं है क्योंकि उसमें परस्पर-विरोधी अर्थोंका कथन पाया जाता है। सभी वस्तुओंको उसमें सर्वथा भेदरूप अथवा सर्वथा अभेदरूप बतलाया गया है। इसी प्रकार प्राभाकर वेदवाक्यका अर्थ नियोग, भाट्ट भावना और वेदान्ती विधि करते हैं और ये तीनों परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी हालतमें यह निश्चय नहीं हो सकता कि अमुक अर्थ प्रमाण है और अमुक नहीं।

अतः वेद भी निरुपाय एवं अशरीरी सर्वज्ञका साधक नहीं है और इसलिये नित्यैकान्तमें सर्वज्ञका भी अभाव सुनिश्चित है।

७. जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि

किन्तु हाँ, सोपाय वीतराग एवं हितोपदेशी सर्वज्ञ हो सकता है क्योंकि उसका साधक अनुमान है। वह अनुमान यह है—

'कोई पुरुष समस्त पदार्थोंका साक्षात्कर्ता है, क्योंकि ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश अन्यथा नहीं हो सकता।' इस अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है।

पर ध्यान रहे कि यह अनुमान अनुपायसिद्ध सर्वज्ञका साधक नहीं है, क्योंकि वह वक्ता नहीं है। सोपायमुक्त बुद्धादि यद्यपि वक्ता हैं किन्तु उनके वचन सदोष होनेसे वे भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होते।

दूसरे, बौद्धोंने बुद्धको 'विधूतकल्पनाजाल' अर्थात् कल्पनाओंसे रहित कहकर उन्हें अवक्ता भी प्रकट किया है और अवक्ता होनेसे वे सर्वज्ञ नहीं हैं।

तथा यौगों (नैयायिकों और वैशेषिकों) द्वारा अभिमत महेश्वर भी स्व-पर-द्रोही दैत्यादिका स्रष्टा होनेसे सर्वज्ञ नहीं है।

यौग—महेश्वर जगत्का कर्त्ता है, अतः वह सर्वज्ञ है; क्योंकि बिना सर्वज्ञताके उससे इस सुव्यवस्थित एवं सुन्दर जगत्की सृष्टि नहीं हो सकती है?

जैन—नहीं, क्योंकि महेश्वरको जगत्कर्त्ता सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।

यौग—निम्न प्रमाण है—'पर्वत आदि बुद्धिमानद्वारा बनाये गये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं तथा जड़-उपादान-जन्य हैं। जैसे घटादिक।' जो बुद्धिमान् उनका कर्त्ता है वह महेश्वर है। वह यदि असर्वज्ञ हो तो पर्वतादि उक्त कार्योंके समस्त कारकोंका उसे परिज्ञान न होनेसे वे असुन्दर, अव्यवस्थित और बेडौल भी उत्पन्न हो जायेंगे। अतः पर्वतादिका बनानेवाला सर्वज्ञ है?

जैन—यह कहना भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि यदि वह सर्वज्ञ होता तो वह अपने तथा दूसरोंके घातक दैत्यादि दुष्ट जीवोंकी सृष्टि न करता। दूसरी बात यह है कि उसे आपने अशरीरी भी माना है पर बिना शरीरके वह जगत्का कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि उसके शरीरकी कल्पना की जाय तो महेश्वरका संसारी होना, उस शरीरके लिये अन्य-अन्य शरीरकी कल्पना करना आदि अनेक दोष आते हैं। अतः महेश्वर जगत्का कर्त्ता नहीं है और तब उसे उसके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करना अयुक्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि

इस तरह न बुद्ध सर्वज्ञ सिद्ध होता है और न महेश्वर आदि। पर ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है, अतः अन्ययोगव्यवच्छेद द्वारा अर्हन्त भगवान् ही सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं।

मीमांसक—अर्हन्त वक्ता हैं, पुरुष हैं और प्राणादिमान् हैं, अतः हम लोगोंकी तरह वे भी सर्वज्ञ नहीं हैं ?

जैन—नहीं, क्योंकि वक्तापन आदिका सर्वज्ञपनेके साथ विरोध नहीं है। स्पष्ट है कि जो जितना अधिक ज्ञानवान् होगा वह उतना ही उत्कृष्ट वक्ता आदि होगा। आपने भी अपने मीमांसादर्शनकार जैमिनिको उत्कृष्ट ज्ञानके साथ ही उत्कृष्ट वक्ता आदि स्वीकार किया है।

मीमांसक—अर्हन्त वीतराग हैं, इसलिये उनके इच्छाके बिना वचनप्रवृत्ति नहीं हो सकती है ?

जैन—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इच्छाके बिना भी सोते समय अथवा गोत्रस्खलन आदिमें वचनप्रवृत्ति देखी जाती है और इच्छा करनेपर भी मूर्ख शास्त्रवक्ता नहीं हो पाता। दूसरे, सर्वज्ञके निर्दोष इच्छा माननेमें भी कोई बाधा नहीं है और उस दशामें अर्हन्त भगवान् वक्ता सिद्ध हैं।

मीमांसक—अर्हन्तके वचन प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वे पुरुषके वचन हैं, जैसे बुद्धके वचन ?

जैन—यह कथन भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि दोषवान् वचनोंको ही अप्रमाण माना गया है, निर्दोष वचनोंको नहीं। अतः अर्हन्तके वचन निर्दोष होनेसे प्रमाण हैं और इसलिये वे ही सर्वज्ञ सिद्ध हैं।

९. अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि

सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिये जो 'ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है' यह अर्थापत्ति प्रमाण दिया गया है उसे मीमांसकोंकी तरह जैन भी प्रमाण मानते हैं, अतः उसे अप्रमाण होने अथवा उसके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध न होनेकी शंका निर्मूल हो जाती है। अथवा, अर्थापत्ति अनुमानरूप ही है। और अनुमान प्रमाण है।

यदि कहा जाय कि अनुमानमें तो दृष्टान्तकी अपेक्षा होती है और उसके अविनाभावका निर्णय दृष्टान्तमें ही होता है किन्तु अर्थापत्तिमें दृष्टान्तकी अपेक्षा नहीं होती और न उसके अविनाभावका निर्णय दृष्टान्तमें होता है अपितु पक्षमें ही होता है, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि दोनोंमें कोई भेद नहीं है—दोनों ही जगह अविनाभावका निश्चय पक्षमें ही किया जाता है। सर्व विदित है कि अद्वैतवादियोंके लिये प्रमाणोंका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिये जो 'इष्टसाधन' रूप अनुमान प्रमाण दिया जाता है उसके अविनाभावका निश्चय पक्षमें ही होता है क्योंकि वहाँ दृष्टान्तका अभाव है। अतः जिस तरह यहाँ प्रमाणोंके अस्तित्वको सिद्ध करनेमें दृष्टान्तके विना भी पक्षमें ही अविनाभावका निर्णय हो जाता है उसी तरह अन्य हेतुओंमें भी समझ लेना चाहिए। तथा इस अविनाभावका निर्णय विपक्षमें बाधक प्रमाणके प्रदर्शन एवं तर्कसे होता है। प्रत्यक्षादिसे उसका निर्णय असम्भव है और इसी लिये व्याप्ति एवं अविनाभावको ग्रहण करने रूपसे तर्कको पृथक् प्रमाण स्वीकार किया गया है। अतः अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है।

१०. वेदपौरुषेयत्वसिद्धि

मीमांसक—ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश अपौरुषेय वेदसे संभव है, अतः उसके लिये सर्वज्ञ स्वीकार करना उचित नहीं है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन—नहीं, क्योंकि वेद पद-वाक्यादिरूप होनेसे पौरुषेय है, जैसे भारत आदि शास्त्र।

मीमांसक—वेदमें जो वर्ण हैं वे नित्य हैं, अतः उनके समूहरूप पद और पदोंके समूहरूप वाक्य नित्य होनेसे उनका समूहरूप वेद भी नित्य है—वह पौरुषेय नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि वर्ण भिन्न-भिन्न देशों और कालोंमें भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं, इसलिये वे अनित्य हैं। दूसरे, ओठ, तालु, आदिके प्रयत्नपूर्वक वे होते हैं और जो प्रयत्नपूर्वक होता है वह अनित्य माना गया है। जैसे घटादिक।

मीमांसक—प्रदीपादिकी तरह वर्णोंकी ओठ, तालु आदिके द्वारा अभिव्यक्ति होती है—उत्पत्ति नहीं। दूसरे, 'यह वही गकारादि है' ऐसी प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञा होनेसे वर्ण नित्य हैं ?

जैन—नहीं; ओठ, तालु आदि वर्णोंके व्यंजक नहीं हैं वे उनके कारक हैं। जैसे दण्डादिक घटादिके कारक हैं। अन्यथा घटादि भी नित्य हो जायेंगे। क्योंकि हम भी कह सकते हैं कि दण्डादिक घटादि के व्यंजक हैं कारक नहीं। दूसरे, 'वही मैं हूँ' इस प्रत्यभिज्ञासे एक आत्माकी भी सिद्धिका प्रसंग आवेगा। यदि इसे भ्रान्त कहा जाय तो उक्त प्रत्यभिज्ञा भी भ्रान्त क्यों नहीं कही जा सकती है।

मीमांसक—आप वर्णोंको पुद्गलका परिणाम मानते हैं किन्तु जड़ पुद्गलपरमाणुओंका सम्बन्ध स्वयं नहीं हो सकता। इसके सिवाय, वे एक श्रोताके कानमें प्रविष्ट हो जानेपर उसी समय अन्यके द्वारा सुने नहीं जा सकेंगे ?

जैन—यह बात तो वर्णोंकी व्यंजक ध्वनियोंमें भी लागू हो सकती है। क्योंकि वे न तो वर्णरूप हैं और न स्वयं अपनी व्यंजक हैं। दूसरे, स्वाभाविक योग्यतारूप संकेतसे शब्दोंको हमारे यहाँ अर्थप्रतिपत्ति कराने वाला स्वीकार किया गया है और लोकमें सब जगह भाषावर्गणाएँ मानी गई हैं जो शब्द रूप बनकर सभी श्रोताओं द्वारा सुनी जाती हैं।

मीमांसक—'वेदका अध्ययन वेदके अध्ययनपूर्वक होता है, क्योंकि वह वेदका अध्ययन है, जैसे आजकलका वेदाध्ययन।' इस अनुमानसे वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है ?

जैन—नहीं, क्योंकि उक्त हेतु अप्रयोजक है—हम भी कह सकते हैं कि 'पिटकका अध्ययन पिटकके अध्ययनपूर्वक होता है, क्योंकि वह पिटकका अध्ययन है, जैसे आजकलका पिटकाध्ययन।' इस अनुमानसे पिटक भी अपौरुषेय सिद्ध होता है।

मीमांसक—बात यह है कि पिटकमें तो बौद्ध कर्त्ताका स्मरण करते हैं और इसलिये वह अपौरुषेय सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु वेदमें कर्त्ताका स्मरण नहीं किया जाता, अतः वह अपौरुषेय सिद्ध होता है ?

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि बौद्धोंके पिटक सम्बन्धी कर्त्तृस्मरणको आप प्रमाण मानते हैं तो वे वेदमें भी अष्टकादिकको कर्त्ता स्मरण करते हैं अर्थात् वेदको भी वे सकर्तृक बतलाते हैं, अतः उसे भी प्रमाण स्वीकार करिये। अन्यथा दोनोंको अप्रमाण कहिए। अतः कर्त्ताके अस्मरणसे भी वेद अपौरुषेय सिद्ध नहीं होता और उस हालतमें वह पौरुषेय ही सिद्ध होता है।

११. परतः प्रामाण्यसिद्धि

मीमांसक—वेद स्वतः प्रमाण है, क्योंकि सभी प्रमाणोंकी प्रमाणता हमारे यहां स्वतः ही मानी गई है, अतः वह पौरुषेय नहीं है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन—नहीं, क्योंकि अप्रमाणताकी तरह प्रमाणोंकी प्रमाणता भी स्वतः नहीं होती, गुणादि सामग्रीसे वह होती है। इन्द्रियोंके निर्दोष—निर्मल होनेसे प्रत्यक्षमें, त्रिरूपतासहित हेतुसे अनुमानमें और आप्तद्वारा कहा होनेसे आगममें प्रमाणता मानी गई है और निर्मलता आदि ही 'पर' हैं, अतः प्रमाणताकी उत्पत्ति परसे सिद्ध है और ज्ञप्ति भी अनभ्यास दशामें परसे सिद्ध है। हाँ, अभ्यासदशामें ज्ञप्ति स्वतः होती है। अतः परसे प्रमाणता सिद्ध हो जाने पर कोई भी प्रमाण स्वतः प्रमाण सिद्ध नहीं होता और इसलिये वेद पौरुषेय है तथा वह सर्वज्ञका बाधक नहीं है।

१२. अभावप्रमाणदूषणसिद्धि

अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि भावप्रमाणसे अतिरिक्त अभावप्रमाणकी प्रतीति नहीं होती। प्रकट है कि 'यहाँ घड़ा नहीं है' इत्यादि जगह जो अभावज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष, स्मरण और अनुमान इन तीन ज्ञानोंसे भिन्न नहीं है। 'यहां' यह प्रत्यक्ष है, 'घड़ा' यह पूर्व दृष्ट घड़ेका स्मरण है और 'नहीं है' यह अनुपलब्धिजन्य अनुमान है। यहां और कोई ग्राह्य है नहीं, जिसे अभावप्रमाण जाने। दूसरे, वस्तु भावाभावात्मक है और भावको जाननेवाला भावप्रमाण ही उससे अभिन्न अभावको भी जान लेता है, अतः उसको जाननेके लिये अभावप्रमाणकी कल्पना निरर्थक है। अतएव वह भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है।

१३. तर्कप्रामाण्यसिद्धि

सर्वज्ञका बाधक जब कोई प्रमाण सिद्ध न हो सका तो मीमांसक एक अन्तिम शंका और उठाता है। वह कहता है कि सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिये जो हेतु ऊपर दिया गया है उसके अविनाभावका ज्ञान असंभव है; क्योंकि उसको ग्रहण करने वाला तर्क अप्रमाण है और उस हालतमें अन्य अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती है? पर उसकी यह शंका भी निस्सार है क्योंकि व्याप्ति (अविनाभाव) को प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। व्याप्ति तो सर्वदेश और सर्वकालको लेकर होती है और प्रत्यक्षादि नियत देश और नियत कालमें ही प्रवृत्त होते हैं। अतः व्याप्तिको ग्रहण करने वाला तर्क प्रमाण है और उसके प्रमाण सिद्ध हो जानेपर उक्त सर्वज्ञ साधक हेतुके अविनाभावका ज्ञान उसके द्वारा पूर्णतः सम्भव है। अतः उक्त हेतुमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि कोई भी दोष न होनेसे उससे सर्वज्ञकी सिद्धि भली भांति होती है।

१४. गुण-गुणीअभेदसिद्धि

वैशेषिक गुण-गुणी, आदिमें सर्वथा भेद स्वीकार करते हैं और समवाय सम्बन्धसे उनमें अभेदज्ञान मानते हैं। परन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि न तो भिन्न रूपसे गुण-गुणी आदिकी प्रतीति होती है और न उनमें अभेदज्ञान कराने वाले समवायकी।

यदि कहा जाय कि 'इसमें यह है' इस प्रत्ययसे समवायकी सिद्धि होती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'इस गुणादिमें संख्या है' यह प्रत्यय भी उक्त प्रकारका है किन्तु इस प्रत्ययसे गुणादि और संख्यामें वैशेषिकोंने समवाय नहीं माना। अतः उक्त प्रत्यय समवायका प्रसाधक नहीं है।

अगर कहें कि दो गन्ध, छह रस, दो सामान्य, बहुत विशेष, एक समवाय इत्यादि जो गुणादिकमें संख्याकी प्रतीति होती है वह केवल औपचारिक है क्योंकि उपचारसे ही गुणादिकमें संख्या स्वीकार की गई है, तो उनमें 'पृथक्त्व' गुण भी उपचारसे स्वीकार करिए और उस दशामें अपृथक्त्व उनमें वास्तविक मानना पड़ेगा, जो वैशेषिकोंके लिये अनिष्ट है। अतः यदि पृथक्त्वको उनमें वास्तविक मानें तो संख्याको भी गुणादिमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तविक हो मानें। और तब उनमें एक तादात्म्य सम्बन्ध ही सिद्ध होता है—समवाय नहीं। अतएव गुणादिकको गुणी आदिसे कथंचित् अभिन्न स्वीकार करना चाहिए।

ब्रह्मदूषणसिद्धि

ब्रह्माद्वैतवादियों द्वारा कल्पित ब्रह्म और अविद्या न तो स्वतः प्रतीत होते हैं, अन्यथा विवाद ही न होता, और न प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंसे; क्योंकि द्वैतकी सिद्धिका प्रसंग आता है। दूसरे, भेदको मिथ्या और अभेदको सम्यक् बतलाना युक्तिसंगत नहीं है। कारण, भेद और अभेद दोनों रूप ही वस्तु प्रमाणसे प्रतीत होती है। अतः ब्रह्मवाद ग्राह्य नहीं है।

अन्तिम उपलब्ध खण्डित प्रकरण

शंका—भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध होनेसे वे दोनों एक जगह नहीं बन सकते हैं, अतः उनका प्रतिपादक स्याद्वाद भी ग्राह्य नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे वे दोनों एक जगह प्रतिपादित हैं—पर्यायोंकी अपेक्षा भेद और द्रव्यकी अपेक्षा अभेद बतलाया गया है और इस तरह उनमें कोई विरोध नहीं है। एक ही रूपादिक्षणको जैसे बौद्ध पूर्व क्षणकी अपेक्षा कारण और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कार्य दोनों स्वीकार करते हैं और इसमें वे कोई विरोध नहीं मानते। उसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिए। अन्यापोहकृत उक्त भेद माननेमें सांकर्यादि दोष आते हैं। अतः स्याद्वाद वस्तुका सम्यक् व्यवस्थापक होनेसे सभीके द्वारा उपादेय एवं आदरणीय है।

२. वादीभसिंहसूरि

(क) वादीभसिंह और उनका समय

ग्रन्थके प्रारम्भमें इस कृतिको वादीभसिंहसूरिकी प्रकट किया गया है तथा प्रकरणोंके अन्तमें जो समाप्तिपुष्पिकावाक्य दिये गये हैं उनमें भी उसे वादीभसिंहसूरिकी ही रचना बतलाया गया है[1], अतः यह निस्सन्देह है कि इस कृतिके रचयिता आचार्य वादीभसिंह हैं।

अब विचारणीय यह है कि ये वादीभसिंह कौनसे वादीभसिंह हैं और वे कब हुए हैं—उनका क्या समय है? आगे इन्हीं दोनों बातोंपर विचार किया जाता है।

१. आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनस्वामीने, जिनका समय ई० ८३८ है, अपने आदिपुराणमें एक 'वादिसिंह' नामके आचार्यका स्मरण किया है और उन्हें उत्कृष्ट कोटिका कवि, वाग्मी तथा गमक बतलाया है। यथा—

> कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य परं पदम्।
> गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः॥

---

१. यथा—'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः ॥१॥ इत्यादि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. पार्श्वनाथचरितकार वादिराजसूरि (ई० १०२५) ने भी पार्श्वनाथचरितमें 'वादिसिंह' का समुल्लेखन किया है और उन्हें स्याद्वादवाणीकी गर्जना करनेवाला तथा दिग्नाग और धर्मकीर्तिके अभिमानको चूर-चूर करनेवाला प्रकट किया है। यथा—

स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते।
दिङ्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभङ्गो न दुर्घटः॥

३. श्रवणबेलगोलाकी मल्लिषेणप्रशस्ति (ई० ११२८) में एक वादीभसिंहसूरि अपरनाम गणभृत (आचार्य) अजितसेनका गुणानुवाद किया गया है और उन्हें स्याद्वादविद्याके पारगामियों द्वारा आदरपूर्वक सतत वन्दनीय और लोगोंके भारी आन्तर तमको नाश करनेके लिये पृथिवीपर आया दूसरा सूर्य बतलाया गया है। इसके अलावा, उन्हें अपनी गर्जनाद्वारा वादि-गजोंको शीघ्र चुप करके निग्रहरूपी जीर्ण गड्ढेमें पटकनेवाला तथा राजमान्य भी कहा गया है। यथा—

वन्दे वन्दितमादरादहरहरस्याद्वादविद्याविदां।
स्वान्त-ध्वान्त-वितान-धूनन-विधौ भास्वन्तमन्यं भुवि।
भक्त्या त्वाऽजितसेनमानतिकृतां यत्सन्नियोगान्मनः-
पद्मं सद्म भवेद्विकास-विभवस्योन्मुक्त-निद्राभरं॥५४॥
मिथ्या-भाषण-भूषणं परिहरेतौद्धत्यमुन्मुञ्चत,
स्याद्वादं वदतानमेत विनयाद्वादीभकण्ठीरवं।
नो चेत्तद्गुरुगर्जित-श्रुति-भय-भ्रान्ता स्थ यूयं यत-
स्तूर्णं निग्रहजीर्णकूपकुहरे वादि-द्विपाः पातिनः॥५५॥
सकल भुवनपालानम्रमूर्द्धावबद्ध-
स्फुरित-मुकुट चूडालीढ-पादारविन्दः।
मदवदखिल-वादीभेन्द्र-कुम्भप्रभेदी,
गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंहः॥५७॥—शिलालेख नं० ५४ (६७)।

४. अष्टसहस्रीके टिप्पणकार लघुसमन्तभद्रने भी अपने टिप्पणके प्रारम्भमें एक वादीभसिंहका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

'तदेवं महाभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसमलंचिकीर्षवः स्याद्वादोद्भासिसत्यवाक्यमाणिक्यमकारिकाघटमदेकटकाराः सूरयो विद्यानन्दस्वामिनस्तदादौ प्रतिज्ञाश्लोकमेकमाह।' —अष्टसहस्री टि० पृ० १।

यहाँ लघुसमन्तभद्र (विक्रमकी १३वीं शती) ने वादीभसिंहको समन्तभद्राचार्यरचित आप्तमीमांसाका उपलालन (परिपोषण) कर्ता बतलाया है। यदि लघुसमन्तभद्रका यह उल्लेख अभ्रान्त है तो कहना होगा कि वादीभसिंहने आप्तमीमांसापर कोई महत्त्वकी टीका लिखी है और उसके द्वारा आप्तमीमांसाका उन्होंने परिपोषण किया है। श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने[1] भी इसकी सम्भावना की है और उसमें आचार्य विद्यानन्दके अष्टसहस्री गत 'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते' शब्दोंके साथ उद्धृत 'जयति जगति' आदि पद्यको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि आप्तमीमांसापर विद्यानन्दके पूर्व लघुसमन्तभद्रद्वारा उल्लिखित वादीभसिंहने टीका रची हो और जिससे ही लघुसमन्तभद्रने उन्हें आप्तमीमांसा-

१. न्यायकु०, प्र० भा०, प्रस्ता० पृ० १११।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उपलालनकर्ता कहा है और विद्यानन्दने 'केचित्' शब्दोंके साथ उन्हींकी टीकाके उक्त 'जयति' आदि समाप्तिमङ्गलको अष्टसहस्रीके अन्तमें अपने तथा अकलङ्कदेवके समाप्तिमङ्गलके पहले उद्धृत किया है।

५. क्षत्रचूड़ामणि और गद्यचिन्तामणि काव्यग्रन्थोंके कर्ता वादीभसिंह सूरि अतिविख्यात और सुप्रसिद्ध हैं।

६. पं० के० भुजबलीजी शास्त्री[1] ई० १०९० और ई० ११४७ के नं० ३ तथा ३७ के दो शिलालेखोंके[2] आधारसे एक वादीभसिंह (अपर नाम अजितसेन) का उल्लेख करते हैं।

७. श्रुतसागरसूरिने भी सोमदेवकृत यशस्तिलक (आश्वास २-१२६) की अपनी टीकामें एक वादीभसिंहका निम्न प्रकार उल्लेख किया है और उन्हें सोमदेवका शिष्य कहा है:—

'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः
श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः। इत्युक्तत्वाच्च।'

वादिसिंह और वादीभसिंहके ये सात उल्लेख हैं जो अब तककी खोजके परिणामस्वरूप विद्वानोंको जैन साहित्यमें मिले हैं। अब देखना यह है कि वे सातों उल्लेख भिन्न-भिन्न हैं अथवा एक? अन्तिम उल्लेखको प्रेमीजी[3], पं० कैलाशचन्द्रजी[4] आदि विद्वान् अभ्रान्त और अविश्वसनीय नहीं मानते, जो ठीक भी है, क्योंकि इसमें उनका हेतु है कि न तो वादीभसिंहने ही अपनेको सोमदेवका कहीं शिष्य प्रकट किया और न वादिराजने ही अपनेको उनका शिष्य बतलाया है। प्रत्युत वादीभसिंहने तो पुष्पसेन मुनिको और वादिराजने मतिसागरको अपना गुरु बतलाया है। दूसरे, सोमदेवने उक्त वचन किस ग्रंथ और किस प्रसङ्गमें कहा, यह सोमदेवके उपलब्ध ग्रन्थोंपरसे ज्ञात नहीं होता। अतः जबतक अन्य प्रमाणोंसे उसका समर्थन नहीं होता तबतक उसे प्रमाणकोटिमें नहीं रखा जा सकता।

शेष उल्लेखोंमें मेरा विचार है कि तीसरा और छठा ये दो उल्लेख अभिन्न हैं तथा उन्हें एक दूसरे वादीभसिंहके होना चाहिए, जिनका दूसरा नाम मल्लिषेणप्रशस्ति और निर्दिष्ट शिलालेखोंमें अजितसेन मुनि अथवा अजितसेन पण्डितदेव भी पाया जाता है तथा जिनके उक्त प्रशस्तिमें शान्तिनाथ और पद्मनाभ अपरनाम श्रीकान्त और वादिकोलाहल नामके दो शिष्य भी बतलाये गये हैं। इन मल्लिषेणप्रशस्ति और शिलालेखोंका लेखनकाल ई० ११२८, ई० १०९० और ई० ११४७ है और इसलिये इन वादीभसिंहका समय लगभग ई० १०६५ से ई० ११५० तक हो सकता है। बाकीके चार उल्लेख—पहला, दूसरा, चौथा और पांचवां प्रथम वादीभसिंहके होना चाहिए, जिन्हें 'वादिसिंह' नामसे भी साहित्यमें उल्लेखित किया गया है। वादीभसिंह और वादिसिंहके अर्थमें कोई भेद नहीं है—दोनोंका एक ही अर्थ है। वादिरूपी गजोंके लिये सिंह और वादियोंके लिये सिंह एक ही बात है।

अब यदि यह सम्भावना की जाय कि क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि काव्यग्रंथोंके कर्ता वादीभसिंहसूरि ही स्याद्वादसिद्धिकार हैं और इन्हींने आप्तमीमांसापर विद्यानन्दसे पूर्व कोई टीका अथवा वृत्ति

१. देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ६, कि० २ पृ० ७८।

२. देखो, ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा सङ्कलित तथा अनुवादित 'मद्रास व मैसूर प्रान्तके प्राचीन स्मारक' नामक पुस्तक।

३. देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४८०।

४. देखो, न्यायकुमुद, प्र० भा०, प्रस्ता० पृ० ११२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखी है जो लघुसमन्तभद्रके उल्लेख तथा विद्यानन्दके 'केचित्' शब्दके साथ उद्धृत 'जयति जगति' आदि पद्य परसे जानी जाती है तथा इन्हीं वादीभसिंहका 'वादिसिंह' नामसे जिनसेन और वादिराजसूरिने बड़े सम्मानपूर्वक स्मरण किया है। तथा 'स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते' वाक्यमें वादिराजने 'स्याद्वादगिर' पदके द्वारा इन्हींकी प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धि जैसी स्याद्वादविद्यासे परिपूर्ण कृतियोंकी ओर इशारा किया है तो कोई अनुचित मालूम नहीं होता। इसके औचित्यको सिद्ध करनेवाले नीचे कुछ प्रमाण भी उपस्थित किये जाते हैं।

(१) क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिके मङ्गलाचरणोंमें कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् भक्तोंके समीहित (जिनेश्वर-पदप्राप्ति) को पुष्ट करें—देवें। यथा—

(क) श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद्भक्तानां वः समीहितम्।
यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे ।।१।।—क्षत्रचू० १-१।

(ख) श्रियः पतिः पुष्यतु वः समीहितं,
त्रिलोकरक्षानिरतो जिनेश्वरः।
यदीयपादाम्बुजभक्तिशीकरः,
सुरासुराधीशपदाय जायते ।। —गद्यचि० पृ० १।

लगभग यही स्याद्वादसिद्धिके मङ्गलाचरणमें कहा गया है—

(ग) नमः श्रीवर्द्धमानाय स्वामिने विश्ववेदिने।
नित्यानन्द-स्वभावाय भक्त-सारूप्य-दायिने ।।१-१।।

(२) जिस प्रकार क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिके प्रत्येक लम्बके अन्तमें समाप्तिपुष्पिकावाक्य दिए हैं वैसे ही स्याद्वादसिद्धिके प्रकरणान्तमें वे पाये जाते हैं। यथा—

(क) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते गद्यचिन्तामणौ सरस्वतीलम्भो नाम प्रथमो लम्बः'—क्षत्रचूडा०।

(ख) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते गद्यचिन्तमणौ सरस्वतीलम्भो नाम प्रथमो लम्बः।'—गद्यचिन्तामणि।

(ग) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः।'—स्याद्वादसिद्धि।

(३) जिस तरह क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिमें यत्र क्वचित् नीति, तर्क और सिद्धान्तकी पुट उपलब्ध होती है उसी तरह वह प्रायः स्याद्वादसिद्धिमें भी उपलब्ध होती है। यथा—

(क) 'अतर्कितमिदं वृत्तं तर्करूढं हि निश्चलम् ।।१-४२।।
इत्यूहेन विरक्तोऽभूद्गत्यधीनं हि मानसम् ।।१-६५।।
—क्षत्रचूडामणि।

(ख) 'ततो हि सुधियः संसारमुपेक्षन्ते।'
—गद्यचिन्तामणि पृ० ७८।

'एवं परगतिविरोधिन्या········ चार्वाकमतसब्रह्मचारिण्या राज्यश्रिया परिगृहीताः क्षितिपतिसुता······ नैयायिकनिर्दिष्टनिर्वाणपदप्रतिष्ठिता इव·······कापिलकल्पितपुरुषा इव ·· प्रकृतिविकारपरं वंचनं प्रतिपादयन्ति।' —गद्यचि० पृ० ६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः। स च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः। अधर्मस्तु तद्विपरीतः।'

—गद्य० पृ० २४३।

(ग) 'तदुपायं ततो वक्ष्ये न हि कार्यमहेतुकम् ॥१-२॥

न ह्यवास्तवतः कार्ये कल्पितागनेश्च दाहवत् ।२-४८॥

न हि स्वान्यातिकृत्वं स्याद्विरागे विश्ववेदिनि ॥७-२२॥

सत्येवात्मनि धर्मे च सौख्योपाये सुखार्थिभिः।

धर्म एव सदा कार्यो न हि कार्यमकारणे ॥१-२४॥—स्याद्वा०।

इन तुलनात्मक कुछ उद्धरणोंपरसे सम्भावना होती है कि क्षत्रचूडामणि तथा गद्यचिन्तामणिके कर्ता वादीभसिंहसूरि और स्याद्वादसिद्धिके कर्ता वादीभसिंहसूरि अभिन्न हैं—एक ही विद्वान्की ये तीनों कृतियाँ हैं। इन कृतियोंसे उनकी उत्कृष्ट कवि, उत्कृष्ट वादी और उत्कृष्ट दार्शनिककी ख्याति और प्रसिद्धि भी यथार्थ जंचती है। द्वितीय वादीभसिंहकी भी जो इसी प्रकारकी ख्याति और प्रसिद्धि शिलालेखोंमें उल्लिखित पाई जाती है और जिससे विद्वानोंको यह भ्रम हुआ है कि वे दोनों एक हैं वह हमें प्रथम वादीभसिंहकी छाप (अनुकृति) जान पड़ती है। इस प्रकारके प्रयत्नके जैन साहित्यमें अनेक उदाहरण मिलते हैं। तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक आदि महान् दार्शनिक ग्रंथोंके कर्ता आचार्य विद्यानन्दकी जैनसाहित्यमें जो भारी ख्याति और प्रसिद्धि है वैसी ही ख्याति और प्रसिद्धि ईसाकी १६वीं शताब्दामें हुए एक दूसरे विद्यानन्दिकी हुम्बुच्चके शिलालेखों और वर्द्धमानमुनीन्द्रके दशभक्त्यादिमहाशास्त्रमें वर्णित मिलती है और जिससे विद्वानोंको इन दोनोंके ऐक्यमें भ्रम हुआ है, जिसका निराकरण विद्यानन्दकी स्वोपज्ञ टीका सहित 'आप्त-परीक्षा'की प्रस्तावनामें किया गया है।[1] हो सकता है कि प्रथम नामवाले विद्वान्की तरह उसी नामवाले दूसरे विद्वान् भी प्रभावशाली रहे हों। अतः ८वीं-९वीं शताब्दीसे १२वीं शताब्दी तक विभिन्न वादीभसिंहोंका अस्तित्व मानना चाहिए। यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त ग्रंथोंके कर्ता वादीभसिंहके कवि और स्याद्वादी होनेके उनके ग्रन्थोंमें प्रचुर बीज भी मिलते हैं।

अब इनके समयपर विचार किया जाता है।

१. स्वामीसमन्तभद्ररचित रत्नकरण्डक और आप्तमीमांसाका क्रमशः क्षत्रचूड़ामणि और स्याद्वाद-सिद्धिपर स्पष्ट प्रभाव है। यथा—

(क) श्वाऽपि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्म-किल्विषात्।

—रत्नकरण्ड०, श्लोक २९।

देवता भविता श्वापि देवः श्वा धर्म-पापतः।

—क्षत्रचूडामणि ११-७७

(ख) कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ॥ आप्त, मी०, श्लो० ८॥

कुशलाकुशलत्वं च न चेत्ते दातृहिंस्रयोः ॥

—स्या० ३-५०।

अतः वादीभसिंहसूरि स्वामी समन्तभद्रके पश्चाद्वर्ती विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके बादके विद्वान् हैं।

---

१. देखो, प्रस्तावना पृ० ८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयादि ग्रन्थोंका भी स्याद्वादसिद्धिपर असर है जिसके तीन तुलनात्मक नमूने इस प्रकार हैं—

(१) असिद्धधर्मिधर्मत्वेऽप्यन्यथानुपत्तिमान् ।
हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ।।

—न्यायविनि० का० १७६ ।

पक्षधर्मत्व-वैकल्येऽप्यन्यथानुपपत्तिमान् ।।
हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ।

—स्या०-४–८७,८८ ।

(२) समवायस्य वृक्षोऽत्र शाखास्वित्यादिसाधनैः ।।
अनन्यसाधनैः सिद्धिरहो लोकोत्तरा स्थितिः ।।

—न्यायवि० का० १०३, १०४

इह शाखासु वृक्षोऽयमिति सम्बन्धपूर्विका ।
बुद्धिरिहेदंबुद्धित्वात्कुण्डे दधीति बुद्धिवत् ।। —स्या० ५-८ ।

(३) अप्रमत्ता विवक्षेयं अन्यथा नियमात्ययात् ।
इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम् ।।

—न्यायवि० का० ३५६ ।

सार्वज्ञसहजेच्छा तु विरागेऽप्यस्ति, सा हि न ।
रागाद्युपहत्ता तस्माद्भवेद्वक्तैव सर्ववित् ।। —स्या० ८-१० ।

अतः वादीभसिंह अकलङ्कदेवके अर्थात् विक्रमकी सातवीं शताब्दीके उत्तरवर्ती विद्वान् हैं ।

३. प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिके छठे प्रकरणकी १९वीं कारिकामें भट्ट और प्रभाकरका नामोल्लेख करके उनके अभिमत भावना-नियोगरूप वेदवाक्यार्थका निर्देश किया गया है । इसके अलावा, कुमारिलभट्टके मीमांसाश्लोकवार्तिकसे कई कारिकाएँ भी उद्धृत करके उनकी आलोचना की गई है । कुमारिलभट्ट और प्रभाकर समकालीन विद्वान् हैं तथा ईसाकी सातवीं शताब्दी उनका समय माना जाता है, अतः वादीभसिंह इनके उत्तरवर्ती हैं ।

४. बौद्ध विद्वान् शङ्करानन्दकी अपोहसिद्धि और प्रतिबन्धसिद्धिकी आलोचना स्याद्वादसिद्धिके तीसरे-चौथे प्रकरणोंमें की गई मालूम होती हैं । शङ्करानन्दका समय राहुल सांकृत्यायनने ई० ८१० निर्धारित किया है ।[१] शङ्करानन्दके उत्तरकालीन अन्य विद्वान्की आलोचना अथवा विचार स्याद्वादसिद्धिमें पाया जाता हो, ऐसा नहीं जान पड़ता । अतः वादीभसिंहके समयकी पूर्वावधि शङ्करानन्दका समय जानना चाहिये । अर्थात् ईसाकी ८वीं शती इनकी पूर्वावधि माननेमें कोई बाधा नहीं है ।

अब उत्तरावधिके साधक प्रमाण दिये जाते हैं—

१. तामिल-साहित्यके विद्वान् पं० स्वामिनाथय्या और श्री कुप्पूस्वामी शास्त्रीने अनेक प्रमाणपूर्वक यह सिद्ध किया है कि तामिल भाषामें रचित तिरुत्तक्कदेव कृत 'जीवकचिन्तामणि' ग्रन्थ क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिकी छाया लेकर रचा गया है और जीवकचिन्तामणिका उल्लेख सर्वप्रथम तामिलभाषाके पेरियपुराणमें मिलता है जिसे चोल-नरेश कुलोत्तुङ्गके अनुरोधसे शेक्किलार नामक विद्वान्ने रचा माना जाता

१. देखो, 'वादन्यायका परिशिष्ट A ।
२. देखो, जैनसाहित्य और इतिहास ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। कुलोत्तुङ्गका राज्यकाल वि० सं० ११३७ से ११७५ (ई० १०८० से ई० १११८) तक है।[१] अतः वादीभसिंह इससे पूर्ववर्ती हैं—बादके नहीं।

२. श्रावकके आठ मूलगुणोंके बारेमें जिनसेनाचार्यके पूर्व एक ही परम्परा थी और वह थी स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकश्रावकाचार प्रतिपादित। जिसमें तीन मकार (मद्य, मांस और मधु) तथा हिंसादि पाँच पापोंका त्याग विहित है। जिनसेनाचार्यने उक्त परम्परामें कुछ परिवर्तन किया और मधुके स्थानमें जुआको रखकर मद्य, मांस, जुआ तथा पाँच पापोंके परित्यागको अष्ट मूलगुण बतलाया। उसके बाद सोमदेवने तीन मकार और पांच उदुम्बर फलोंके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा, जिसका अनुसरण पं० आशाधरजी आदि विद्वानोंने किया है। परन्तु वादीभसिंहने क्षत्रचूडामणिमें स्वामी समन्तभद्र प्रतिपादित पहली परम्पराको ही स्थान दिया है और जिनसेन आदिकी परम्पराओंको स्थान नहीं दिया। यदि वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवके उत्तरकालीन होते तो वे बहुत सम्भव था कि उनकी परम्पराको देते अथवा साथमें उन्हें भी देते। जैसा कि पं० आशाधरजी आदि उत्तरवर्ती विद्वानोंने किया है। इसके अलावा, जिनसेन (ई० ८३८) ने आदिपुराणमें इनका स्मरण किया है, जैसाकि पूर्वमें कहा जा चुका है। अतः वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवसे, जिनका समय क्रमशः ईसाकी नवमी और दशमी शताब्दी है, पश्चाद्वर्ती नहीं हैं—पूर्ववर्ती हैं।

३. न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टने कुमारिलकी मीमांसाश्लोकवार्तिक गत 'वेदस्याध्ययनं सर्वं' इस, वेदकी अपौरुषेयताको सिद्ध करनेके लिये उपस्थित की गई अनुमानकारिकाका न्यायमञ्जरीमें सम्भवतः सर्व प्रथम 'भारताध्ययनं सर्वं' इस रूपसे खण्डन किया है, जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती प्रभाचन्द्र[२], अभयदेव[३] देवसूरि[४], प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य[५] प्रभृति तार्किकोंने किया है। न्यायमञ्जरीकारका वह खण्डन इस प्रकार है—

'भारतेऽप्येवमभिधातुं शक्यत्वात् भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं।
भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानीन्तनभारताध्ययनवदिति ॥'

—न्यायमं पृ० २१४।

परन्तु वादीभसिंहने स्याद्वादसिद्धिमें कुमारिलकी उक्त कारिकाके खण्डनके लिये अन्य विद्वानोंकी तरह न्यायमञ्जरीकारका अनुगमन नहीं किया। अपितु स्वरचित एक भिन्न कारिकाद्वारा उसका निरसन किया है जो निम्न प्रकार है—

पिटकाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्।
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ॥—स्या० १०-३०।

इसके अतिरिक्त वादीभसिंहने कोई पाँच जगह और भी इसी स्याद्वादसिद्धिमें पिटकका ही उल्लेख किया है, जो प्राचीन परम्पराका द्योतक है। अष्टशती और अष्टसहस्री (पृ० २३७) में अकलङ्कदेव तथा उनके अनुगामी विद्यानन्दने भी इसी (पिटकत्रय) का ही उल्लेख किया है।

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं स्वस्त्री-मितवसु-ग्रहौ।
मद्यमांसमधुत्यागैस्तेषां मूलगुणाष्टकम् ॥—क्षत्र० ७-२३।

२. देखो, न्यायकुमुद पृ० ७३१, प्रमेयक०, पृ० ३९६।

३. देखा, सन्मतिटी०, पृ० ४१।

४. देखो, स्या० र०, पृ० ६३४।

५. देखो, प्रमेयरत्न०, पृ० १३७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि यदि वादीभसिंह न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टके उत्तरवर्ती होते तो सम्भव था कि वे उनका अन्य उत्तरकालीन विद्वानोंकी तरह जरूर अनुसरण करते—'भारताध्ययनं सर्वं' इत्यादिको ही अपनाते और उस हालतमें 'पिटकाध्ययनं सर्वं' इस नई कारिकाको जन्म न देते। इससे ज्ञात होता है कि वादीभसिंह न्यायमञ्जरीकारके उत्तरवर्ती विद्वान् नहीं हैं। न्यायमञ्जरीकारका समय ई० ८४० के लगभग माना जाता है[1]। अतः वादीभसिंह इनसे पहलेके हैं।

४. आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षामें जगत्कर्तृत्वका खण्डन करते हुए ईश्वरको शरीरी अथवा अशरीरी माननेमें दूषण दिये हैं और उसकी विस्तृत मीमांसा की है। उसका कुछ अंश टीका सहित नीचे दिया जाता है—

'महेश्वरस्याशरीरस्य स्वदेहनिर्माणानुपपत्तेः। तथा हि—
देहान्तराद्विना तावत्स्वदेहं जनयेद्यदि।
तदा प्रकृतकार्येऽपि देहाधानमनर्थकम् ॥१८॥
देहान्तरात्स्वदेहस्य विधाने चानवस्थितिः।
तथा च प्रकृतं कार्यं कुर्यादीशो न जातुचित् ॥१९॥

यथैव हि प्रकृतकार्यजननायापूर्वशरीरमीश्वरो निष्पादयति तथैव तच्छरीरनिष्पादनायापूर्वशरीरान्तरं निष्पादयेदिति कथमनवस्थां विनिवार्येत ?

यथाऽनीशः स्वदेहस्य कर्ता देहान्तरान्मतः।
पूर्वस्मादित्यनादित्वान्नानवस्था प्रसज्यते ॥२१॥
तथेशस्यापि पूर्वस्माद्देहाद्देहान्तरोद्भवात्।
नानवस्थेति यो ब्रूयात्तस्यानीशत्वमीशितुः ॥२२॥
अनीशः कर्मदेहेनाऽनादिसन्तानवर्तिना।
यथैव हि सकर्माणस्तद्वन्न कथमीश्वरः ॥२३॥

प्रायः यही कथन वादीभसिंहने स्याद्वादसिद्धिकी सिर्फ ढाई कारिकाओंमें किया है और जिसका पल्लवन एवं विस्तार उपर्युक्त जान पड़ता है। वे ढाई कारिकाएँ ये हैं—

देहारम्भोऽप्यदेहस्य वक्तृत्ववदयुक्तिमान्।
देहान्तरेण देहस्य यद्यारम्भोऽनवस्थितिः ॥
अनादिस्तत्र बन्धश्चेत्त्यक्तोपात्तशरीरता।
अस्मादादिवदेवाऽस्य जातु नैवाशरीरता ॥
देहस्यानादिता स्यादेतस्यां च प्रमात्ययात्।—६-१०,११½।

इन दोनों उद्धरणोंका मिलान करनेसे ज्ञात होता है कि वादीभसिंहका कथन जहाँ संक्षिप्त है वहाँ विद्यानन्दका कथन कुछ विस्तारयुक्त है। इसके अलावा, वादीभसिंहने प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिमें अनेकान्तके युगपदनेकान्त और क्रमानेकान्त ये दो भेद प्रदर्शित करके उनका एक-एक स्वतन्त्र प्रकरण द्वारा विस्तारसे वर्णन किया है। विद्यानन्दने भी श्लोकवार्तिक (पृ० ४३८) में अनेकान्तके इन दो भेदोंका उल्लेख किया है।

---

१. देखो, न्यायकु०, द्वि० भा०, प्र० पृ० १६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन बातोंसे लगता है कि शायद विद्यानन्दने वादीभसिंहका अनुसरण किया है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो विद्यानन्दका समय वादीभसिंहकी उत्तरावधि समझना चाहिये। यदि वे दोनों विद्वान् समकालीन हों तो भी एक दूसरेका प्रभाव एक दूसरेपर पड़ सकता है और एक दूसरेके कथन एवं उल्लेखका आदर एक दूसरा कर सकता है। विद्यानन्दका समय हमने अन्यत्र[1] ई० ७७५ से ८४० अनुमानित किया है।

५, गद्यचिन्तामणि (पीठिका श्लोक ६) में वादीभसिंहने अपना गुरु पुष्पषेण आचार्यको बतलाया है और ये पुष्पषेण वे ही पुष्पषेण मालूम होते हैं जो अकलंकदेवके सधर्मा और 'शत्रुभयङ्कर' कृष्ण प्रथम (ई० ७५६-७७२) के समकालीन कहे जाते हैं[2]। और इसलिये वादीभसिंह भी कृष्ण प्रथमके समकालीन हैं।

अतः इन सब प्रमाणोंसे वादीभसिंहसूरिका अस्तित्व-समय ईसाकी ८वीं और ९वीं शताब्दीका मध्य-काल—ई० ७७० से ८६० सिद्ध होता है।

बाधकोंका निराकरण

इस समयके स्वीकार करनेमें दो बाधक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं और वे ये हैं—

१. क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिमें जीवन्धर स्वामीका चरित्र निबद्ध है जो गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराण[3] (शक सं० ७७०, ई० ८४८) गत जीवन्धरचरितसे लिया गया है। इसका संकेत भी गद्यचिन्तामणिके निम्न पद्यमें मिलता है—

> निःसारभूतमपि बन्धनतन्तुजातं, मूर्ध्ना जनो वहति हि प्रसवानुषङ्गात्।
> जीवन्धरप्रभवपुण्यपुराणयोगाद्वाक्यं ममाऽप्युभयलोकहितप्रदायि ॥९॥

अतएव वादीभसिंह गुणभद्राचार्यसे पीछेके हैं।

२. सुप्रसिद्ध धारानरेश भोजकी झूठी मृत्युके शोकपर उनके समकालीन सभाकवि कालिदास, जिन्हें परिमल अथवा दूसरे कालिदास कहा जाता है, द्वारा कहा गया निम्न श्लोक प्रसिद्ध है—

> अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
> पण्डिता खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते ॥

और इसी श्लोकके पूर्वार्धकी छाया सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसङ्गमें कही गई गद्यचिन्तामणिकी निम्न गद्यमें पाई जाती है—

> 'अद्य निराधारा धरा निरालम्बा सरस्वती।'

अतः वादीभसिंह राजा भोज (वि० सं० १०७६ से वि० ११-१२) के बादके विद्वान् हैं।

ये दो बाधक हैं जिनमें पहलेके उद्भावक श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी हैं और दूसरेके स्थापक श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री तथा समर्थक प्रेमीजी हैं। इनका समाधान इस प्रकार है—

---

१. देखो, आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना पृ० ५३।

२. देखो, डा० सालतोर कृत मिडियावल जैनिज्म पृ० ३६।

३. प्रेमीजीने जो इसे 'शक सं० ७०५ (वि० सं० ८४०) की रचना' वतलाई है (देखो, जैनसा० और इति० पृ० ४८१) वह प्रेसादिकी गलती जान पड़ती है; क्योंकि उन्हींने उसे अन्यत्र शक सं० ७७०, ई० ८४८के लगभगकी रचना सिद्ध की है, देखो वही पृ० ५१४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. कवि परमेष्ठी अथवा परमेश्वरने जिनसेन और गुणभद्रके पहले 'वागर्थसंग्रह' नामका जगत्प्रसिद्ध पुराण रचा है[1] और जिसमें त्रेशठशलाका पुरुषोंका चरित वर्णित है तथा जिसे उत्तरवर्ती अनेकों पुराणकारोंने अपने पुराणोंका आधार बनाया है। खुद जिनसेन और गुणभद्रने भी अपने आदिपुराण तथा उत्तरपुराण उसीके आधारसे बनाये हैं, यह प्रेमीजी स्वयं स्वीकार करते हैं[2]। तब वादीभसिंहने भी जीवन्धरचरित, जो उक्त पुराणमें निबद्ध होगा, उसी (पुराण) से लिया है, यह कहनेमें भी कोई बाधा नहीं जान पड़ती।

गद्यचिन्तामणिका जो पद्य प्रस्तुत किया गया है उसमें सिर्फ इतना ही कहा है कि 'इसमें जीवन्धरस्वामीके चरितके उद्भावक पुण्यपुराणका सम्बन्ध होने अथवा मोक्षगामी जीवन्धरके पुण्य-चरितका कथन होनेसे यह (मेरा गद्यचिन्तामणिरूप वाक्य-समूह) भी उभय लोकके लिये हितकारी है।' और वह पुण्यपुराण उपर्युक्त कविपरमेष्ठीका वागर्थसंग्रह भी हो सकता है। इसके सिवाय, गद्यचिन्तामणिकारने उस जीवन्धचरितको गद्यचिन्तामणिमें कहनेकी प्रतिज्ञा की है जिसे गणधरने कहा और अनेक सूरियों (आचार्यों) द्वारा जगत्में ग्रन्थरचनादिके रूपमें प्रख्यापित हुआ है। यथा—

इत्येवं गणनायकेन कथितं पुण्यास्रवं शृण्वतां
तज्जीवन्धरवृत्तमत्र जगति प्रख्यापितं सूरिभिः।
विद्यास्फूर्तिविधायि धर्मजननीवाणीगुणाभ्यर्थिनां
वक्ष्ये गद्यमयेन वाङ्मयसुधावर्षेण वाक्सिद्धये ॥१५॥

दूसरे, यदि क्षत्रचूडामणि और गद्यचितामणि वादीभसिंह सूरिकी अन्तिम रचनाएँ हों तो गुणभद्र (ई० ८४८) के उत्तरपुराणका उनमें अनुसरण माननेमें भी कोई हानि नहीं है।

अतः वादीभसिंहको गुणभद्राचार्यका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेके लिये जो उक्त हेतु दिया गया है वह वादीभसिंहके उपरोक्त समयका बाधक नहीं है।

२. दूसरी बाधाको उपस्थित करते हुए उसके उपस्थापक श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री और समर्थक प्रेमीजी दोनों विद्वानोंको कुछ भ्रान्ति हुई है। वह भ्रान्ति यह है कि गद्यचिन्तामणिकी उक्त गद्यको सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसङ्गमें कही गई बतलाई है किन्तु वह उनके शोकके प्रसङ्गमें नहीं कही गई। अपितु काष्ठाङ्गारके हाथीको जीवन्धरस्वामीने कड़ा मारा था, उससे क्रुद्ध हुए काष्ठाङ्गारके निकट जब जीवन्धरस्वामीको गन्धोत्कटने बांधकर भेज दिया और काष्ठाङ्गारने उन्हें वधस्थानमें लेजाकर फांसी देनेकी सजाका हुक्म दे दिया तो सारे नगरमें सन्नाटा छा गया और समस्त नगरवासी सन्तापमें मग्न होगये तथा शोक करने लगे। इसी समयकी उक्त गद्य है और जो पांचवें लम्बमें पाई जाती है जहाँ सत्यन्धरका कोई सम्बन्ध नहीं है—उनका तो पहले लम्ब तक ही सम्बन्ध है। वह पूरी प्रकृतोपयोगी गद्य इस प्रकार है—

'अद्य निराश्रया श्रीः, निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती, निष्फलं लोकलोचनविधानम्, निःसारः संसारः, नीरसा रसिकता, निरास्पदा वीरता इति मिथः प्रवर्तयति प्रणयोद्गारिणीं वाणीम.....'—पृ० १३१।

इस गद्यके पद-वाक्योंके विन्यास और अनुप्रासको देखते हुए यही प्रतीत होता है कि यह गद्य मौलिक है और वादीभसिंहकी अपनी रचना है। हो सकता है कि उक्त परिमल कविने इसी गद्यके पदोंको अपने उक्त श्लोकमें समाविष्ट किया हो। यदि उल्लिखित पद्यकी इसमें छाया होती तो 'अद्य' और 'निराधारा धरा'

---

१. देखो डा० ए० एन० उपाध्येका 'कवि परमेश्वर या परमेष्ठी' शीर्षक लेख, जैनसि० भा० १३, कि. २।
२. देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४२१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के बीचमें 'निराश्रया श्रीः' यह पद्य फिर शायद न आता। छायामें मूल ही तो आता है। यही कारण है कि इस पदको शास्त्रीजी और प्रेमीजी दोनों विद्वानोंने पूर्वोल्लिखित गद्यमें उद्धृत नहीं किया—उसे अलग करके और 'अद्य' को 'निराधारा धरा' के साथ जोड़कर उपस्थित किया है! अतः यह दूसरी बाधा भी उपरोक्त समयकी बाधक नहीं है।

(ख) पुष्पसेन और ओडयदेव

वादीभसिंहके साथ पुष्पसेन मुनि और ओडयदेवका सम्बन्ध बतलाया जाता है। पुष्पसेनको उनका गुरु और ओडयदेव उनका जन्म नाम अथवा वास्तव नाम कहा जाता है। इसमें निम्न पद्य प्रमाणरूपमें दिये जाते हैं—

पुष्पसेनमुनिनाथ इति प्रतीतो, दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम संनिदध्यात्।
यच्छक्तितः प्रकृतमूढमतिर्जनोऽपि, वादीभसिंहमुनिपुङ्गवतामुपैति ॥
श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः।
स्थेयादोडयदेवेन चिरायास्थानभूषणः ॥
स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृतः।
गद्यचिन्तामणिर्लोके चिन्तामणिरिवापरः ॥

इनमें पहला पद्य गद्यचिन्तामणिकी प्रारम्भिक पीठिकाका छठा पद्य है और जो स्वयं ग्रन्थकारका रचा हुआ है। इस पद्यमें कहा गया है कि 'वे प्रसिद्ध पुष्पसेन मुनीन्द्र दिव्य मनु—पूज्य गुरु मेरे हृदयमें सदा आसन जमाये रहें—वर्तमान रहें जिनके प्रभावसे मुझ जैसा निपट मूर्ख साधारण आदमी भी वादीभसिंह मुनिश्रेष्ठ अथवा वादीभसिंहसूरि बन गया।' अतः यह असंदिग्ध है कि वादीभसिंह सूरिके गुरु पुष्पसेन मुनि थे—उन्होंने उन्हें मूर्खसे विद्वान् और साधारण जनसे मुनिश्रेष्ठ बनाया था और इसलिए वे वादीभसिंहके दीक्षा और विद्या दोनोंके गुरु थे।

अन्तिम दोनों पद्य, जिनमें ओडयदेवका उल्लेख है, मुझे वादीभसिंहके स्वयंके रचे नहीं मालूम होते, क्योंकि प्रथम तो जिस प्रशस्तिके रूपमें वे पाये जाते हैं वह प्रशस्ति गद्यचिन्तामणिकी सभी प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं है—सिर्फ तञ्जोरकी दो प्रतियोंमेसे एक ही प्रतिमें वह मिलती है। इसीलिये मुद्रित गद्यचिन्तामणिके अन्तमें वे अलगसे दिए गए हैं, और श्रीकुप्पूस्वामी शास्त्रीने फुटनोटमें उक्त प्रकारकी सूचना की है। दूसरे, प्रथम श्लोकका पहला पाद और दूसरे श्लोकका दूसरा पाद, तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका तीसरा पाद तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका पहला पाद परस्पर अभिन्न हैं—पुनरुक्त हैं—उनसे कोई विशेषता ज़ाहिर नहीं होती और इसलिये ये दोनों शिथिल पद्य वादीभसिंह जैसे उत्कृष्ट कविकी रचना ज्ञात नहीं होते। तीसरे, वादीभसिंहसूरिकी प्रशस्ति देनेकी प्रकृति और परिणति भी प्रतीत नहीं होती। उनकी क्षत्रचूड़ामणिमें भी वह नहीं है और स्याद्वादसिद्धि अपूर्ण है, जिससे उसके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः उपर्युक्त दोनों पद्य हमें अन्यद्वारा रचित एवं प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं और इसलिए ओडयदेव वादीभसिंहका जन्म नाम अथवा वास्तव नाम था, यह विचारणीय है। हाँ, वादीभसिंहका जन्म नाम व असली नाम कोई रहा जरूर होगा। पर वह क्या होगा, इसके साधनका कोई दूसरा पुष्ट प्रमाण ढूँढ़ना चाहिए।

(ग) वादीभसिंहकी प्रतिभा और उनकी कृतियाँ

आचार्य जिनसेन तथा वादिराज जैसे प्रतिभाशाली विद्वानों एवं समर्थ ग्रन्थकारोंने आचार्य वादीभसिंहकी प्रतिभा और विद्वत्तादि गुणोंका समुल्लेख करते हुए उनके प्रति अपना महान् आदरभाव प्रकट किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और लिखा है कि वे सर्वोत्कृष्ट कवि, श्रेष्ठतम वाग्मी और अद्वितीय गमक थे तथा स्याद्वादविद्याके पारगामी और प्रतिवादियोंके अभिमानचूरक एवं प्रभावशाली विद्वान् थे और इसलिये वे सबके सम्मान योग्य हैं। इससे जाना जा सकता है कि आचार्य वादीभसिंह एक महान् दार्शनिक, वादी, कवि और दृष्टिसम्पन्न विद्वान् थे—उनकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता बहुमुखी थी और उन्हें विद्वानोंमें अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

इनकी तीन कृतियाँ अबतक उपलब्ध हुई हैं। वे ये हैं—

१. **स्याद्वादसिद्धि**—प्रस्तुत ग्रन्थ है।

२. **क्षत्रचूडामणि**—यह उच्चकोटिका एक नीति काव्यग्रन्थ है। भारतीय काव्यसाहित्यमें इस जैसा नीतिकाव्यग्रन्थ और कोई दृष्टिगोचर नहीं आया। इसकी सूक्तियाँ और उपदेश हृदयस्पर्शी हैं। यह पद्यात्मक रचना है। इसमें क्षत्रियमुकुट जीवन्धरके, जो भगवान् महावीरके समकालीन और सत्यन्धर नरेशके राजपुत्र थे, चरितका चित्रण किया गया हैं। उन्होंने भगवान्से दीक्षा लेकर निर्वाण लाभ किया था और इससे पूर्व अपने शौर्य एवं पराक्रमसे शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके नीतिपूर्वक राज्यका शासन किया था।

३. **गद्यचिन्तामणि**—यह ग्रन्थकारकी गद्यात्मक काव्यरचना है। इसमें भी जीवन्धरका चरित निबद्ध है। रचना बड़ी ही सरस, सरल और अपूर्व है। पदलालित्य, वाक्यविन्यास, अनुप्रास और शब्दावली-की छटा ये सब इसमें मौजूद हैं। जैन काव्यसाहित्यकी विशेषता यह है कि उसमें सरागताका वर्णन होते हुए भी वह गौण—अप्रधान रहता है और विरागता एवं आध्यात्मिकता लक्ष्य तथा मुख्य वर्णनीय होती है। यही बात इन दोनों काव्यग्रन्थोंमें है। काव्यग्रन्थके प्रेमियोंको ये दोनों काव्यग्रन्थ अवश्य ही पढ़ने योग्य हैं।

प्रमाणनौका और नवपदार्थनिश्चय ये दो ग्रन्थ भी वादीभसिंहके माने जाते हैं। प्रमाणनौका हमें उपलब्ध नहीं हो सकी और इसलिये उसके बारेमें नहीं कहा जा सकता है कि वह प्रस्तुत वादीभसिंहकी ही कृति है अथवा उनके उत्तरवर्ती किसी दूसरे वादीभसिंहकी रचना है। नवपदार्थनिश्चय हमारे सामने है और जिसका परिचय अनेकान्त वर्ष १० किरण ४-५ में दिया गया है। इस परिचयसे हम इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि यह रचना स्याद्वादसिद्धि जैसे प्रौढ़ ग्रन्थोंके रचयिताकी कृति ज्ञात नहीं होती। ग्रन्थकी भाषा, विषय और वर्णनशैली प्रायः उतने प्रौढ़ नहीं है जितने उनमें हैं और न ग्रन्थका जैसा नाम हैं वैसा इसमें महत्त्वका विवेचन है—साधारण तौरसे नवपदार्थोंके मात्र लक्षणादि दिये गये हैं। अन्तःपरीक्षणपरसे यह प्रसिद्ध और प्राचीन तर्क-काव्यग्रन्थकार वादीभसिंहसूरिसे भिन्न और उत्तरवर्ती किसी दूसरे वादीभसिंहकी रचना जान पड़ती है। ग्रन्थके अन्तमें जो समाप्तिपुष्पिकावाक्य पाया जाता है उसमें इसे 'भट्टारक वादीभसिंहसूरि' की कृति प्रकट भी किया गया है[1]। यह रचना ७२ अनुष्टुप् और १ मालिनी कुल ७३ पद्योंमें समाप्त है। रचना साधारण और औपदेशिक है और प्रायः अशुद्ध है। विद्वानोंको इसके साहित्यादिपर विशेष विचार करके उसके समयादिका निर्णय करना चाहिए।

इस तरह ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है।

●

१. 'इति श्रीभट्टारकवादीभसिंहसूरिविरचितो नवपदार्थनिश्चयः'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org